शिलीमुखी

[उच्च कोटि के आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन]

पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' एम० ए०,
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजपूताना विश्वविद्यालय।

सम्पादक—

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०,
शास्त्री, सिद्धान्त-शिरोमणि।

★

प्रकाशक—

गौतम बुक डिपो, दिल्ली

सम्पादकीय वक्तव्य

'शिलीमुखी' का प्रकाशन हिन्दी आलोचना-साहित्य के क्रमिक इतिहास का पूरक और आलोचना क्षेत्र में मौलिक एवं स्वतन्त्र अभिव्यंजना-शैली का प्रदर्शक है। अब से तेईस-चौबीस वर्ष पहले शिलीमुख जी के समालोचक रूप का उदय हुआ था। साहित्य-क्षेत्र में वे इससे पहले पुरातत्व सम्बन्धी लेख तथा कहानियाँ लिख कर प्रवेश कर चुके थे। समालोचक के रूप में उन्होंने जो आलोचनाएँ उस समय लिखीं वे भाव, विचार और अभिव्यंजना शैली में इतनी मौलिक हैं कि आज भी हम उनकी टक्कर की निष्पक्ष एवं मार्मिक आलोचनाएँ नहीं देखते। इस पुस्तक में शिलीमुख जी के उस समय से लेकर अब से ग्यारह-बारह वर्ष पहले तक के आलोचनात्मक लेख प्रस्तुत किये गये हैं।

इन लेखों को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने में लेखक को कुछ संकोच था, उनके विचार से ये इस योग्य न थे कि संग्रहणीय समझे जायं। शिलीमुख जी का ऐसा सोचना स्वाभाविक था। तेईस-चौबीस वर्ष की दीर्घ अवधि में निरन्तर विकासमान और प्रबुद्ध उनकी सुप्रौढ़ चिन्तनशीलता की तुला में ये लेख उन्हें हलके जँचने ही चाहिए। आज शिलीमुख जी हमारे चोटी के विचारकों में हैं। उनके इधर कुछ वर्षों के लेख इस बात के प्रमाण हैं कि वे गम्भीर-चिन्तन को ही अपने निबन्धों का मेरुदंड बनाते हैं।

जैसा कि हमने अभी कहा कि शिलीमुख जी प्रारम्भ से ही मौलिक रहे हैं और अपने मौलिक दृष्टिकोण के कारण उनके तेईस-चौबीस वर्ष पुराने लेख आज भी नये ही हैं। उन लेखों द्वारा आज भी आलोच्य कृतियों तथा कलाकारों के कृतित्व को विधिवत् आँका जा सकता है।

शिलीमुख जी के समालोचक रूप का उदय और हिन्दी-समालोचना का सुव्यवस्थित रूप से विकास प्रायः एक ही समय में हुआ। सन् १९२४ में हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी एम० ए० कक्षाओं को समालोचना शास्त्र का विधिवत् अध्यापन करने की आवश्यकता अनुभव हुई और तभी समालोचना को सैद्धान्तिक पक्ष में, एक शास्त्र के रूप में, और प्रयोग-पक्ष में एक कला के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता हुई। हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग

के अध्यापक बा० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल क्रमशः इन दोनों पक्षों की ओर रचनात्मक रूप में प्रवृत्त हुए। इनसे पहले हिन्दी में साहित्य के सिद्धान्त पक्ष के नाम पर तो कोई स्वतन्त्र प्रयास हुआ ही न था। प्रयोग-पक्ष में 'देव और बिहारी' वाले 'तू-तू, मैं-मैं प्रणाली' के विवाद अथवा दो चार अन्य प्राचीन कवियों की अलंकाराश्रयी प्रशंसा या फिर श्री प्रेमचन्द विषयक प्रचारोदिष्ट लेखों के अतिरिक्त और कुछ न था। मिश्र बन्धुओं की आलोचना पद्धति सामान्य गुण दोष दर्शन से कभी ऊपर उठी ही नहीं। इन सब आलोचनाओं के बारे में कहा जा सकता है कि वह अधिकतर दरबारी ढंग की ही थी। स्वतन्त्र विचारणा और स्पष्ट कथन की दृष्टि से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के कुछ आलोचनात्मक लेख अवश्य अच्छे थे। किन्तु उनमें गाम्भीर्य का अभाव खटकता था।

हिन्दू-विश्वविद्यालय में आलोचना के क्षेत्र में दो विद्वानों द्वारा सैद्धान्तिक और प्रायोगिक सक्रियता का प्राथमिक रूप आलोचना-शास्त्र के भारतीय और अभारतीय सिद्धान्तों का अध्ययन था। फलतः तुलसी, सूर और जायसी पर पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं में हमें पांडित्यपूर्ण अध्ययन और शास्त्र के प्रयोग का अति विशद रूप दृष्टिगोचर होता है। पांडित्यपूर्ण शास्त्र-प्रयोग का यह रूप आलोचक की संवेदनशीलता और सहानुभूतिमय दृष्टिकोण से निखर कर इतना विशद और उत्कृष्ट हो गया है कि अपने ढंग में अभी तक वह अद्वितीय है—और दीखता है कि भविष्य में भी अद्वितीय ही रहेगा।

आलोचना-सम्बन्धी प्रगति के प्रारम्भिक चार-पाँच वर्षों के भीतर ही सन् १९२७-'२८ में हमें आलोचक 'शिलीमुख' के दर्शन होते हैं। उस युग में 'शिलीमुख जी' एक स्वतन्त्र, निर्भीक, साहसी और स्पष्टवादी आलोचक के रूप में हमारे कौतूहल और विस्मय को उकसा कर हमें सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं; क्योंकि आलोचना क्षेत्र में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने किसी सम सामयिक और जीवित लेखक पर मिथ्या औपचारिक शिष्टाचार के फेर में न पड़ कर, अपने अनुकूल और प्रतिकूल विचारों को निर्भीकता पूर्वक प्रकट किया। सचमुच ही उन दिनों यह बहुत बड़े साहस का काम था। स्वतन्त्र शैली का अवलम्बन कर मौलिक दृष्टिकोण से लिखना रूढ़िबद्ध आलोचना को संकीर्णता से मुक्त कर उसके क्षेत्र और आचरण में नये विकास का मार्ग प्रशस्त करना था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना को यदि शास्त्रीय अध्ययन का पांडित्य और गाम्भीर्य प्रदान किया था तो शिलीमुख जी ने उसे विचार और

अभिव्यंजना का एक स्वतन्त्र रूप, नया मार्ग और नया क्षेत्र प्रदान किया। शिलीमुख जी की आलोचना में प्रवृत्ति का कारण कोई वाह्य परिस्थिति या किसी प्रकार का दबाव न था, केवल अन्तःप्रेरणा से ही वे आलोचना क्षेत्र में आये थे अतः निसर्गतः वे अधिक मौलिक रहे।

समालोचक का कार्य है कि वह कलाकार के कृतित्व अथवा कृति के यथार्थ रूप को समझने और परखने में पाठक की सहायता करे जैसा कि आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक आलोचनाओं ने किया है। आलोचक का दूसरा बड़ा कार्य उसकी निर्माण शक्ति में है जिससे वह वर्तमान और भविष्य के साहित्य को किसी विशेष प्रकार की प्रेरणा देता है, शिलीमुख जी की प्रारम्भिक रचनाओं ने दोनों कार्य किये हैं। निस्सन्देह उनकी प्रारम्भिक आलोचनाएँ कृतित्व के विश्लेषण में तीक्ष्ण-दंश से पूर्ण हैं किन्तु वह दंश स्वस्थ निर्माण के पथ को प्रशस्त करता है—कंटकित नहीं। शिलीमुख जी की उस काल की आलोचनाओं का यदि भली भाँति अध्ययन किया जाय तो हम यह स्पष्ट देखते हैं कि साहित्य का मूल्याङ्कन करने के साथ उनमें निर्माण का संदेश है। अतः उनका साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्व है।

शिलीमुख जी की इन आलोचनाओं को भली भाँति हृदयङ्गम करने के लिए आलोचना-शास्त्र के मूल तत्वों के साथ आलोचक की वाणी के मूल स्वर को भूलना नहीं चाहिए। इन आलोचनाओं में कटुता या व्यंग्य की मार्मिक चोट देख कर पाठक को भ्रम में पड़ कर मिथ्या धारणा बनाने का अवकाश न हो, इसलिए हम नीचे की पंक्तियों में शिलीमुख जी के आलोचना का आधार स्पष्ट करना चाहते हैं।

आलोचक का कर्म कठोर है। आलोच्यकृति की परख, नाप-जोख या मूल्याङ्कन के लिए वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा कृति के उन स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ कलाकार की साहित्य-साधना का बीज निहित होता है। आलोचक न तो अर्थवादों द्वारा शासित होता है और न प्रशंसात्मक प्रचार से प्रभावित ही। कृति के मूल्याङ्कन के लिए आलोचक अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण के प्रयोग द्वारा काव्य-शास्त्र से पथ-प्रदर्शन मात्र ग्रहण करता है। यथार्थ समीक्षा के लिए आलोचक को कृति के उन गुह्य-स्तरों में भी झाँकना होता है जहाँ सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने में अशिव और सुन्दर की भूमिका में असुन्दर

छिपा बैठा है। छिद्रान्वेषण या कीर्तिस्तवन से ऊपर उठ कर यथार्थ का उद्घाटन ही उसका विशिष्ट धर्म है। व्याघ्र चर्मावृत रासभ को यदि वह न पहचान पाया तो सत्यान्वेषण की कसौटी पर खरा कैसे उतरेगा। आलोचक में मेधा की प्रखरता के साथ सन्तुलित विवेक, निष्पक्ष दृष्टि निक्षेप, कलात्मक अनुभूति को निर्लिप्त भाव से ग्रहण करने की क्षमता तथा अभिव्यक्ति में वाणी-संयम की अनिवार्य आवश्यकता है। स्वस्थ और सफल समालोचक सहानुभूति तत्व की उपेक्षा करके समीक्षा में प्रवृत्त नहीं होते और निर्मम भाव से कलम को छूट नहीं देते। फलतः समालोचक कलाकृति के बाह्य एवं आभ्यंन्तर की विवृति के लिए जिस मान दंड का उपयोग करते हैं उसका मूलाधार शास्त्र-सिद्धान्त भले ही हो किन्तु व्यक्तिगत प्रभाव और रसग्राहिता का पुट उसमें प्रधान रहता है। साहित्य का रस लेने की क्षमता एक बात है और उस की यथार्थ आलोचना करने की योग्यता सर्वथा दूसरी। साहित्य का रसास्वादन अपेक्षाकृत एक सीमित, निष्क्रिय, मूक मानस व्यापार है जब कि आलोचना इसके ठीक विपरीत सक्रिय, मुखर और सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने का साधन भी है। स्मरण रहे कि इसी कारण प्रभावशाली आलोचक जहाँ पाठकों को नूतन दृष्टि प्रदान करते हैं वहाँ साथ ही साथ लेखकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन ला देते हैं। आलोचक की भावयित्री प्रतिभा के मूल उपादानों में भावुकता, रसग्राहिता और बौद्धिकता की आवश्यकता का यह भी एक विशिष्ट कारण है।

हिन्दी-समालोचना-साहित्य का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही में पहुँच सकते हैं कि विगत अर्द्ध-शती के जीवन काल में हिन्दी आलोचकों में स्थायी प्रभाव और परिवर्तन पैदा करने की योग्यता रखने वाले आलोचक इने-गिने हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में चलने वाले आलोचकों में भी वह उत्कर्ष और तेज दृष्टि गत नहीं होता जो शुक्ल जी में था। शिलीमुख जी की नई-पुरानी आलोचनाओं की विशेषता यही है कि वे विचार और चिन्तन की गहराई में पैठकर कृति की थाह पाने में पूरी तरह सफल होते हैं। आधुनिक युग के मनोविज्ञान-शास्त्र का प्रयोग जिस सहज शैली से इन आलोचनाओं में उन्होंने किया है वह आलोचक के प्रति आस्था बुद्धि उत्पन्न करने में सहायक होता है।

'शिलीमुखी' में संकलित प्रेम चन्द संबंधी आलोचनायें जिस समय पत्रों में प्रकाशित हुई थीं उस समय कुछ लोगों को वे अरोचक मालूम हुई थीं। प्रेम-

चन्द जी को भी वे अच्छी नहीं लगीं। परन्तु यह हम देखते हैं कि इन लेखों के प्रकाशन के बाद प्रेमचन्द की प्रणाली और उनके विचारों में स्पष्ट रूप से संस्कार हुआ। कहानी और उपन्यास के अतिरिक्त प्रेम चन्द जी ने जो दूसरे लेख बाद में लिखे वे अधिक गंभीर, विवेचनात्मक तथा परिष्कृत होते गये। पहले प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में आदर्शवाद का आग्रह दिखाते थे बाद में वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षपाती हो गये। इसी प्रकार अपने बाद के लेखों में उन्होंने 'अभिन्नत्व से भिन्नत्व और भिन्नत्व से अभिन्नत्व' की बात स्वीकार कर इन लेखों में उठाई गई वर्गवाद के विरुद्ध आवाज को ही रूपान्तर में स्वीकार किया है और जीवन की विशाल विविधता में समन्वय के मर्म को ग्रहण करने की चेष्टा की है। हम यह भी देखते हैं कि इन लेखों के (प्रेमचन्द-सम्बन्धी आलोचनाएँ) बाद में प्रकाशित प्रेमचन्द के उपन्यासों—ग़बन और गोदान— में वर्गीय कट्टरपन का वह रूप नहीं है जो पहले के उपन्यासों में था। लगभग इसी तीन-चार वर्ष के समय में शिलीमुखजी की 'आधुनिक हिन्दी कहानियां' की भूमिका पाठकों के सामने आई थी। निश्चय ही इस भूमिका में प्रतिपादित कथा-तत्वों के आधार पर संवेदनातत्व को प्रेमचन्द जी ने अपने बाद के लेखों में कहानी के लिए आवश्यक तत्व स्वीकार किया। इतना ही नहीं, 'प्रसाद' जैसी शक्तिशाली विभूति तक पर शिलीमुख जी की आलोचना का प्रभाव पड़ा है। उन्हीं दिनों इनकी आलोचनात्मक कृति 'प्रसाद की नाट्यकला' छपी थी। प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए कतिपय सुझाव शिलीमुखजी ने रखे थे और कुछ खटकने वाली त्रुटियों की ओर भी इंगित किया था। यह देखा जा सकता है कि नाट्यकला के प्रकाशन के बाद प्रसाद के नाटकों में संकेतित परिवर्तन हुआ। नाटकों में 'सावधान' शब्द का प्रयोग बहुत ही कम और स्वगतभाषण अधिक संयत और लघु हो गये। इसी प्रकार कतिपय सुझावों को भी 'प्रसाद जी' ने स्वीकार किया था।

शिलीमुख जी की उस समय की रचनाओं से तत्कालीन साहित्य को मिलने वाली प्रेरणा का अन्यतम रूप यह भी है कि जहाँ एक ओर 'प्रसाद की नाट्यकला' के बाद उसके ढंग की अन्य पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाने लगीं वहाँ दूसरी ओर सम-सामयिक लेखकों-कवियों पर समालोचनाएँ लिखने का लोगों में साहस पैदा हुआ। 'आधुनिक हिन्दी कहानियां' की भूमिका के आधार पर कहानी कला पर भी लेख प्रकाशित हुए। इस भूमिका ने कहानी-कला के तत्वों का ही बोध नहीं कराया वरन् कहानी के वहिरंग एवं अन्तरंग

का मर्म स्पष्ट रूप से पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया। साहित्य निर्माण के इस कार्य के अतिरिक्त इन प्रारम्भिक लेखों ने लोक रुचि को विवेचनात्मक बनाने में जो पथ प्रदर्शन का कार्य किया है वह भी असंदिग्ध है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिलीमुख जी के आलोचना क्षेत्र में आने से पहले समसामयिक कलाकारों पर आलोचना लिखने का द्वार उन्मुक्त नहीं हुआ था। आचार्य शुक्ल जी को छोड़कर और कोई आलोचक प्राचीन कलाकारों पर भी सर्वाङ्गीण समालोचना प्रस्तुत न कर पाया था; प्रेमचन्दजी के विषय में जो दो-चार समालोचनात्मक लेख छपे थे वे अतिरंजित प्रशंसात्मक लेख थे। शिलीमुखजी के पदार्पण करते ही आलोचना का नवीन रूप पाकर लोक-चेतना में कौतूहल जागृत हुआ और पाठक को निश्चय हुआ कि कोरी प्रशंसा का ही नाम आलोचना नहीं है। कोरे चमत्कार के जाल में उलझा रखने वाली आलोचना सही आलोचना नहीं होती—जीवन से असम्पृक्त शास्त्रीय पद्धति पर गुण दोष कथन मात्र से भी समालोचक का कर्तव्य पूरा नहीं होता।

इस प्रकार साहित्य निर्माण की प्रेरणा और पाठकों की रुचि के परिष्कार के द्विविध कर्तव्यों की पूर्ति जिस तरह शिलीमुखजी की प्रारम्भिक रचनाओं ने की है वैसी हिन्दी आलोचना के इतिहास में हम अन्यत्र बहुत कम पाते हैं। निस्सन्देह हिन्दी समालोचना के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सर्वाधिक हाथ है किन्तु उनकी पद्धति से गंभीर एवं पांडित्य पूर्ण आलोचनाओं का ही प्राचुर्य होना संभव है जो अधीत एवं पंडितवर्ग द्वारा समादृत होती हैं। हिन्दी आलोचना में विचार और चिन्तन की प्रौढ़ता तथा अभिव्यंजना में नूतनता लाने का श्रेय शिलीमुखजी को ही प्राप्त है।

'शिलीमुखी' में हमने लेखक के उन्हीं निबन्धों को संकलित किया है जिनका उपयोग उच्च कक्षाओं के परीक्षार्थी छात्र कर सकते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद, हरिऔध, पन्त आदि कलाकार आधुनिक हिन्दी साहित्य के स्तम्भ हैं। इनकी कला-कृतियों की मौलिक दृष्टिकोण से लिखी हुई समीक्षा पढ़ कर निश्चय ही छात्रों को एक नवीन चिन्ता-धारा मिलेगी। 'शिलीमुखी' का प्रथम लेख 'समालोचक नामा' अपनी शैली का अपूर्व और अद्भुत लेख है। समालोचक के अधिकार, कर्तव्य और सीमाओं का बोध कराते हुए आलोचना-मर्म पर लेखक ने बड़ी ही मार्मिक शैली से प्रकाश डाला है। अभिव्यंजना का ऐसा रूप हिन्दी के कम निबन्धों में दृष्टिगत होता है। इस संकलन के अन्त में छात्रों का ध्यान रख कर 'शिलीमुख' जी के कुछ नोट्स रूप में लिखे हुए लघु-लेखों को

हमने परिशिष्ट में दिया है। विषय से परिचित होने के लिए ये लघु-लेख बड़े उपयोगी हैं। इनमें दो एक रेडियो-भाषण के रूप में लिखे गये हैं। अतः भाषा की सरलता की ओर लेखक का विशेष ध्यान रहा है।

हमें विश्वास है कि 'शिलीमुखी' के प्रकाशन से हिन्दी आलोचना-साहित्य के क्रमिक विकास का इतिवृत्त भी प्रकाश में आयगा और पाठकों की विवेचनात्मक प्रवृत्ति को प्रबुद्ध करने की पर्याप्त सामग्री इन लेखों में उपलब्ध होगी।

रामजस कॉलेज,
[दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली]

—विजयेन्द्र स्नातक

विषय-सूची

परिशिष्ट

: १ :

समालोचकनामा*

१. समालोचक थू:

अब से दस-बारह वर्ष पहले, जब मैंने 'सरस्वती' में कुछ आलोचनात्मक लेख छपवाये थे, कतिपय नत्कं व्यक्तियों को पता लगा कि मैंने अपना नाम 'शिलीमुख' रक्खा है। संभवतः मेरे पूरे लेख या लेखों से उन्हें यही एक बात मालूम हुई। एक सज्जन ने मेरे उपनाम पर आक्षेप किया। उन्हें मेरे साथ शील का व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिए उन्होंने साफ़ ही कह डाला, "क्या आपने अपना नाम शिलीमुख इसीलिए रक्खा है कि आप डङ्क मारते हैं? आप बाण का कर्म करते हैं अथवा आप स्वयं बाण ही हैं?" कहने से व्यंग्य का उद्देश्य पूरा नहीं होता था, इसीलिए उन्होंने डंक मारने के मुहाविरे का प्रयोग किया। मुँह पर तो आया कि "मुझसे बड़े शिलीमुख शायद आप स्वयं हैं" पर ज़ुबान इस तरह खुल न सकी। शायद वह संस्कृत जानते थे, या शायद नहीं जानते थे; पर मैंने उन्हें बतलाया कि 'शिलीमुख' शब्द का एक और भी अर्थ है। मैं रस के लिए भटकता हूँ, और अनेक जगह व्यर्थ, जहाँ सिवाय चटक के और कुछ नहीं पाता। उस समय यदि आप चाहो तो अपनी शब्दावली में कह सकते हो कि मैं भिनभिनाने लगता हूँ।

तब एक दिन एक महोदय ने उन दिनों के 'अभ्युदय' में मेरे चाबुक लगा दिये और फिर कुछ समय बाद (या शायद कुछ समय पहले, मुझे ठीक याद नहीं है) वही महाशय एक प्रसिद्ध पत्रिका के संपादक के दफ़्तर में मुझे फटकारने लगे। कारण, मैंने किसी पत्रिका के लिए दी हुई उनकी कहानी को, संपादक के मुझसे पूछने पर, ठीक नहीं बताया था और वह छपने से रुक गई थी। फटकार खाकर मैंने कहा, "श्रीमान······साहब, आप बिल्कुल दुरुस्त फ़रमाते हैं कि मैं न समालोचना जानता हूँ, न साहित्य और न कहानी-तत्त्व। तथापि एक मूर्ख व्यक्ति को भी अपनी सम्मति बनाने का अधिकार है और जब उससे उसकी सम्मति पूछी जाय तो वह उसे चाहे तो प्रकट भी कर सकता है।"

---

* माधुरी, मई या जून सन् १९३४।

रोकने के लिए उनका अस्तित्व है और, हम देखते चले जाते हैं कि जहाँ गन्दगी या चोरी बेईमानी का सब से कम निवास है वहीं, सिविल लाइनों या भारत के राम-राज्य में, सफ़ाई तथा सदाचार के ऊपर सब से अधिक ज़ोर दिया जाता है और ड्रेन इन्स्पेक्टर व पुलिस-इन्स्पेक्टर की मांग बढ़ती जाती है।

यह प्रश्न मानसिक और उसके दरजे से बढ़कर फिर आध्यात्मिक विकास का है। गन्दा कर्म करनेवाला मेहतर आजकल के पढ़े-लिखे साफ़-सुथरे बाबू से ज्यादा तन्दुरुस्त दीखता है। तथापि मेहतर की तरह रहने का समर्थन साधारण रूप से किसी के भी लिए नहीं किया जा सकता; क्योंकि सफ़ाई और सुरुचि को गुण मानकर सभ्यता ने उनके स्टैण्डर्ड बना दिये हैं। सभ्यता ने बहुत से हानिकर स्टैण्डर्ड भी बनाये हैं, पर उनका शास्त्रार्थ दूसरे लोग करें। मानसिक विकास की दृष्टि से मनुष्य को परिवर्तन की आवश्यकता है हमेशा बढ़ते रहने की ज़रूरत है, और उस बढ़ते रहने का स्टैण्डर्ड हमको अपनी दूसरों से तुलना करने पर कभी अपने से ही अपनी तुलना करने पर प्राप्त हुआ करता है।

हिन्दी को भारतीयों की जातीय भाषा बनाने के प्रयास में भारतीयों की भारतीयता का विकास तथा उसको आजकल की विश्व-परिस्थितियों में समंजस रूप से बिठाना, उद्देश्य बन जाता है। साहित्य मानसिक तथा जातीयता के विकास का दर्पण ही नहीं, उसका एकमात्र उपाय भी है। प्रारंभ से मध्य तक की अवस्थाओं में वह व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति का भी रूप और उपाय है 'साढ़े तीन यार' से हम सन्तुष्ट नहीं रह सकते और न प्रेमचन्द या प्रसाद, गुप्त या पन्त या रवीन्द्र से ही असन्तोष का अभ्यास करने की हमें ज़रूरत है, निसर्ग अपना काम करता है। निसर्ग से ही कोतवाल आदि भी पैदा हो जाते हैं, जिन्हें साहित्य में 'समालोचक' कहते हैं; और मानसिक तथा साहित्यिक विकास के साथ समालोचना तथा समालोचक का भी विकास होता है। इसका उदाहरण यह है कि खड़ी बोली के प्रथम प्रतिष्ठित समालोचक पंडित पद्मसिंह शर्मा के ढंग की समालोचना लिखने का अब कोई साहस नहीं करता।

जब बरसात होना स्वाभाविक है, तो घास-फूस का होना भी स्वाभाविक है। समालोचक को घास-फूस ही समझ लीजिए, ये खुद ही पैदा हो जाते हैं और इसके साथ यह भी समझ लीजिए कि घास-फूस की तरह इनका चर्वण भी किया जाता है। मैं हिन्दी की बरसात की बात को ही ले रहा हूं। घास का चर्वण करके बहुत-सी गाय-भैंस अच्छा और अधिक दूध देती हैं और बहुत-सी केवल गोबर ही किया करती हैं।

किसी २ ग्राहक को यह कहने का साहस हो सकता है कि वह खट्टी है, बासी है; पर जब हलवाई या उसका हिमायती पूछता है कि कभी पहले भी गुलाबजामुन खाई थीं अथवा यह कि इमली खट्टी नहीं होती क्या, तुम्हारे घर के कपड़े बासी नहीं हैं क्या, तो एक मिनट को ग्राहक हैरान हो ही जाता है। यही कदाचित् हलवाई के हिमायती का उद्देश्य भी है और, समालोचक भी तो एक ग्राहक ही है। वह चोखी चीज़ चाहता है और दुर्भाग्य से खट्टी-बासी कह देने का साहस कर लेता है, यदि उसे पागल न बनाया जाय तो बड़ी नेक बात हो।

समालोचना यदि पाठकों के विचारों को उत्तेजित कर जिज्ञासा और विचार-विनिमय की चेष्टा को जन्म नहीं दे पाती तो वह अपने एक अकेले उद्देश्य को ही पूरा नहीं करती। यह या तो तभी होता है जब समालोचना परम निर्जीव होती है और इस कारण लोगों की दृष्टि तक उस पर नहीं पड़ती या फिर तब जबकि आलोचना का देश संवेदना-शून्य या दुराग्रही हो जाय। दूसरी परिस्थिति होने पर जनता को एक स्वर से कह देना चाहिए कि हमें अपने मस्तिष्क को ज़ोर देने की फ़ुरसत नहीं है। हम विचार-विनिमय नहीं चाहते; हममें जिज्ञासा नहीं है; हमें समालोचना क़तई नहीं चाहिए और ऐसा कहने का भी अगर उसमें साहस नहीं है, तब तो वह फ़क़त तमाशा देखे—समझदारी इसीमें है; क्योंकि समालोचक तो पैदा होगा ही वह साहित्य की ग्रहागत व्याधि है, जो साहित्य के मानव-शरीर को उसके कर्मों का फल देने आती है और बाद में आधिभौतिक रूप ग्रहणकर उस शरीर की गन्दगी को जैसे-तैसे निकालने का प्रयत्न करती है।

२. समालोचक का जन्म

बरसात की उपमा से यह खुदरो खुदाई फ़ौजदार अथवा मानव-शरीर की उपमा से यह ग्रहजात व्याधि हरियाली और विरेचन के रूप में बरसात और मानव-शरीर के स्वास्थ्य के वास्ते बरसात और मानव-शरीर का जीवन-तत्त्व है। एक में वह फलरूप में और दूसरे में वह कारणरूप में प्रकट होता है। परन्तु खुदरो होने के कारण फल और कारण का भेद यहाँ तिरोहित हो जाता है, चेतनामूल जीवन-तत्त्व का वह प्रकाश है, उसका ही वह स्वरूप है। साहित्य भी तो अपने मूल और यथार्थ रूप में खुदरो ही है। 'मा निषाद' आदि कहनेवाले ने कहाँ कभी साहित्य या साहित्य-सिद्धान्तों का नाम सुना होगा। 'मा निषाद' ही तो प्रथम साहित्य है, प्रथम काव्य है, काव्य और साहित्य की नित्य प्रेरणा है। मेरे और तुम्हारे भीतर भी तो 'मा निषाद' की चीत्कार

रात-दिन उठा करती है, और मेरी चीत्कार तो तुम सुनते हो और तुम्हारी को मैं सुनता हूँ। तब आदि कवि के साथ-साथ आदि-समालोचक की भी सृष्टि हो गई। आदि कवि ने कहा, 'मा निषाद', सुननेवाले ने कहा 'ओह! वाणी में भी इतना दर्द!' यह सुननेवाला ही प्रथम समालोचक था, 'मा निषाद' वाले को 'आदि कवि' कह देना, 'मा निषाद' का वर्ग बनाकर उसे कविता का नाम दे देना, सबसे प्रथम और सबसे बड़ी आलोचना नहीं है क्या?"

३. समालोचक का वेष

वाणी के दर्द या वाणी के मिठास या वाणी के और कुछ से प्रभावित होने पर वाणी की शक्ति के ऊपर ध्यान जाता है। वाणी को शक्ति की अपेक्षा का भी पता चलता है, अपेक्षा के भाव में तुलना आदि है और समालोचना का प्रकट रूप दिखाई देता है। सिद्धान्तों की खोज होती है, लक्षण बनते हैं और शास्त्र का आधार तथा स्वरूप निश्चित होता है! इससे अगली अवस्था में शास्त्र का प्रयोग। इस समालोचना में जिज्ञासा और प्रयोग के भेद से समालोचकों के भी दो स्वरूप हो जाते हैं: जिज्ञासु या शास्त्रकार, और प्रयोजक। परन्तु चिरन्तन प्रेरणा सजीव रहती है—हृदय और वाणी का योग तो तब टूटे जब मनुष्य ही न रहे—और एक समय का शास्त्र दूसरे समय में निर्जीव हो जाता है। तब समालोचना का रूप विकृत हो जाता है। साहित्य-शास्त्र के पंडित केवल इस बात को जानते हैं कि वे शास्त्र के पंडित हैं। वे साहित्य में शास्त्र को ढूँढ़ते हैं, 'मा निषाद' को नहीं, जिसने उनके शास्त्र को बनाया है। और साहित्य कृत भी विकार से नहीं बचता, क्योंकि उसने भी सिद्धान्तों की कुछ बातें सुनी हैं, कुछ दूसरे श्रेष्ठ कवियों की बातें सुनी हैं। उसके भीतर शास्त्रकार और दूसरे कवि रहते हैं, वह स्वयं नहीं रहता। 'मा निषाद' * कहां से निकले।

बड़ी मुश्किल तो यह हो जाती है कि उसके भीतर एक 'निज इच्छा निर्मित तनु' के आकारों का समालोचक भी विद्यमान रहता है और कृतिकार का केवल एक आभासमात्र ही रह जाता है। स्वाधीन जिज्ञासा समालोचक का गुण है, अतः यदि वह समालोचक बनता तो अधिक अच्छा होता, परन्तु वह तो कृतिकार ही बनना चाहता है। और उसे अपनी कृति के बारे में स्वयं सन्देह है, इसलिए अपनी कृति के द्वारा वह दूसरों पर शासन करना चाहता

---

* मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

है, उसके समर्थन के लिए स्वयं सिद्धान्त बनाने की चेष्टा करता है और समालोचक मुँह बन्द करता है। भारत का बर्नार्ड शा बनने की उत्तुंग महत्त्वाकांक्षा में वह द्विजेन्द्र की कला पर सस्ती भावुकता की कीचड़ उछालता है और कविता में बुद्धिवाद तथा विदग्धता का फटा हुआ ढोल बजाता है।

ऐसे कृतिकार को लेकर समालोचकों में युद्ध ठनता है। शास्त्रज्ञान का अहंकारी शास्त्र के ठप्पे को उसके उत्कीर्ण चित्र में बिठाकर देखता है और जो शास्त्र नहीं जानता, या यदि जानता भी हो तो उसका अहंकार नहीं रखता, वह 'मा निषाद' को ढूँढ़ता है। भवभूति को ऐसे आलोचकों के झमेले में पड़ने का अनुभव हुआ था। इनके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का समालोचक वह भी होता है जो 'मा निषाद' की संवेदना से शून्य है और किसी शास्त्र का ज्ञानी भी नहीं, पर ग्रन्थों की आलोचना करने की भावनामात्र से अपना सिद्धान्त बनाता है।

इन तीनों में पहले दो से साहित्य का पृथक्-पृथक् कुछ-न-कुछ उपकार हो सकता है। परन्तु तीसरे प्रकार में से अधिकतर अनुरोधी और विरोधी पक्षपात को ही जन्म मिलता है। इनमें सर्वश्रेष्ठ तो शायद दूसरा है। पर उससे भी सर्वश्रेष्ठ वह चौथा है जो पहले दोनों तथा तीसरे के द्वितीयांश का संयोग है। एक पाँचवाँ समालोचक भी प्रायः मिल जाता है, जो पहले और दूसरे के युद्ध से पैदा होता है, पर न पहला होता है, न दूसरा, यह समालोचक का समालोचक है। साहित्य के स्वास्थ्य के लिए कभी-कभी वह भी ज़रूरी है, युद्ध की अमर्यादा और निरंकुशता को रोकने के लिए, यदि उसमें विवेक से तोलने की योग्यता है तो।

४. पक्षपात का स्वरूप

लोकनीति से जीवन के हरएक व्यापार में पक्षपात को एक बार ही अपेक्षा के लिए बुरा मान लिया गया है। पर साहित्य में इस मोटी-सी बात का रात-दिन ही ढिंढोरा पीटा जाता है कि समालोचक को पक्षपात-शून्य होना चाहिये। क्या ज़रूरत है, इस बात को हमेशा दुहराने की, मैं नहीं समझ सका। सूर्य को सदा चमकना चाहिये, या अन्धे को कभी नहीं देखना चाहिये, यह भी कोई कहता है। फिर, मालूम होता है, हृदय और मन की प्रत्येक वृत्ति की भाँति पक्षपात के भी विभेद किये जा सकते हैं। कुछ प्रकार के पक्षपात किसी दूसरे प्रकार के पक्षपातों की अपेक्षा निर्दोष भी कहे जा सकते हैं।

इन निर्दोष प्रकारों में शास्त्रीय अथवा जातीय कारणों से उत्पन्न हुए पक्षपातों को समालोचक में क्षम्य कहना होगा। जो व्यक्ति शास्त्र के आग्रह से ही किसी वस्तु को प्रशंस्य या निंद्य ठहराता है वह यथार्थ में पक्षपाती नहीं, केवल समय के परिवर्तन की अपेक्षा से संकीर्ण दृष्टिवाला है, पुराने कठमुल्ला जब जूता पहने-पहने मेरे भोजन करने पर आक्षेप करते हैं तो मैं उन्हें सिर्फ़ 'आउट आफ़ डेट' ही कहता हूँ। जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर 'मदर इण्डिया' की भारत के प्रत्येक विद्वान् ने बुराई की, या समस्त मारवाड़ी-जाति को विगर्हित करनेवाले, साहित्यरथ के किसी अठारहवें सवार को किसी मारवाड़ी युवक ने कलकत्ते के भरे-बाज़ार में जूता मार दिया। जूता मारना विरोधी समालोचना की क्रियात्मक पराकाष्ठा थी। पर किसी ने उन विद्वानों या इस युवक को पक्षपाती नहीं कहा।

यदि देखो तो ये दोनों प्रकार वस्तुतः पक्षपात की श्रेणी में नहीं आने चाहिये। इन्हें पक्षपात इसीलिए कहना पड़ता है कि इनमें कहीं, किसी अंश में, समालोचक के दुराग्रही हो जाने का संशय हो सकता है। शास्त्रीय या जातीय आग्रह की तीव्रता में यह हो जाना सम्भव है कि कदाचित् आलोचक की दृष्टि आलोच्य वस्तु के गुणों पर न पड़े या वह गुणों को भी अवगुणों के रूप में ही देखने लगे तथापि वह उन कतिपय या अनेक अवगुणों को तो जन-समाज के सामने रखता ही है, जिन्हें शायद जन-समाज भी अवगुण ही कहेगा, और यदि वह दूसरी बातों को भी तर्क के साथ पेश करता है तो समझदार लोग उन्हें अपनी समझदारी की कसौटी पर कसकर देख सकते हैं।

जिसे वास्तविक पक्षपात कह सकते हैं और जो हमेशा निन्द्य है, वह केवल एक ही है। वह जो लेखक और आलोचक के व्यक्तिगत सम्बन्ध से उदय होता है, और ऐसे समालोचक की आलोचना में कृति और कृतिकार की समालोचना नहीं होती, बल्कि होता है प्रच्छन्न या प्रकट रूप में व्यक्ति का अनुरोधी या विरोधी विज्ञापन, और उसका उद्देश्य होता है व्यक्तिगत सम्बन्ध की पुष्टि। पहले प्रकार की आलोचना का उद्देश्यपूर्ण साहित्यिक है, और इसी प्रकार दूसरी का भी, क्योंकि साहित्य को देश या जाति और उसके प्रत्येक अंग का दर्पण कहा है। पर तीसरे प्रकार की आलोचना का साहित्य से कोई दूर का भी नाता नहीं है और वह अपने रूप और उद्देश्य को छिपा भी नहीं सकती। किसी ने 'हरिऔध की बुढ़भस' लिखा और किसी ने 'प्रेमचन्द की करतूत' दोनों के नामों में ही उनके चुग़लख़ोर को पहचान लीजिये।

५. अधिकारी ज्ञान

पक्षपात की बात के अलावा समालोचक के विषय में एक बात और भी कही जाती है। आलोचक को अपने आलोच्य विषय का अधिकारी ज्ञान होना चाहिये। पर अधिकारी ज्ञान है क्या ? शास्त्रीजी ने तो 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' आदि की पूँछ पकड़कर कह दिया—'आशीर्नमस्क्रिया करके मुख है जिसका सो ऐसा सुचतुरोदात्त नायक जो है जिससे जुक्त नगरार्णवशैलत्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनानि अपिच विप्रलम्भविवाहमन्त्रदूतप्रयाणाजि तेषां अतिसुमधुरवर्णनानि करके समन्वित ये संदलकृति और श्रव्यवृत्त महाकाव्य पूरे पिचत्तर सर्गों मध्ये समाप्त भया सो परम सुमनोहर है एवं सर्वत्रइ रसें और सस्से के भाव से सुनिरन्तर अनुप्रासित इत्तिशुभम्। अथवा फिर—"आशीनर्नमस्क्रिया करके मुख है जिसका ऐसा सुचतुरोदात्त-नायक जो है विससे भी जुक्त अपिच नगरार्णवादीनां वर्णन करके समन्वित होता गया ये काव्य अलंकृतिशून्य और रसें एवं सस्से के * अनुप्रास के विहीन अधमाधम काव्याभास है इत्यशुभम्।' यदि शास्त्र का लाक्षणिक ज्ञान ही अधिकारी ज्ञान है तो सचमुच शास्त्रीजी ने एक बड़ी भारी मुश्किल को ज़रा-से में आसान बनाकर पौने पाँच पंक्तियों में महाकाव्य की समालोचना कर दी, पर आजकल अपने पुराने शास्त्र की इतनी पूछ नहीं। हम लोग उसे जानते नहीं हैं, इसलिए तो पाश्चात्य कसौटी को समयानुकूल मान लेने में भी कोई हर्ज नहीं है। उसमें इतनी पारिभाषिकता भी नहीं है। वह एक व्यावहारिक बुद्धि की चीज़ है और आजकल हमारा सब साहित्य अंग्रेजी के प्रभाव से काफ़ी अनुरंजित भी हो चुका है। पर देखो ! तर्जनी उठाकर वह कौन क्या कह रहा है ? दो-चार अंग्रेजी किताबों के नाम सुनकर या इधर-उधर के कुछ प्रसिद्ध उद्धरण उठाकर ही आजकल के अनुभवशून्य युवक आलोचना करने बैठ जाते हैं......। सन्देह होता है, शायद वह ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि भारत आध्यात्मिक देश है और तर्जक महोदय को भारतीय आध्यात्मिकता का अबोध, पर दूसरों को रोआब में डाल देनेवाला थोड़ा-सा ज्ञान है।

शास्त्रीजी दंडी की ढाल लेकर मैदान में उतरे हैं और अनुभव-शून्य नवयुवक शेक्सपियर-परम्परा के रिवाल्वर से हमला करता है—और आध्यात्मिक सज्जन, जो अंग्रेजी भी पढ़े हैं, दोनों को फटकारते हुए ढाल में रिवाल्वर

---

* रसभावनिरन्तरम्—काव्यादर्श।

जड़वाकर एक नये हथियार का आविष्कार करने बैठे हैं। ख्याल बुरा नहीं है। एक ही में रक्षा और प्रहार का काम चल जायगा।

पर ढाल-मय रिवाल्वर से गिर्नी-गोल्ड या दूसरे प्रकार के कोई सस्ते मिश्र धातु भले ही बना लिये जायँ, जो सिक्के का ठप्पा पाकर संभवतः बाज़ार में चालू भी हो जायँ, पर उससे पूर्वी पश्चिम या पश्चिमी पूर्व नहीं बन सकता! और पक्षपात तथा अधिकार का इतना विश्लेषण न करके, अथवा इनके विवाद में न पड़कर, सब लोग जैसे कहते हैं वैसा ही मान लेने पर भी समालोचना की आत्मा का निर्णय नहीं होता। पक्षपातहीन होने या अधिकारी ज्ञानवाला होने से ही यथार्थ, सही शब्दों में पूरा, समालोचक नहीं बनता; चाहे वह शिलीमुख हो, या बिच्छू का डङ्क हो और या—या—मैं नहीं कह सकता, नामकरण करनेवाले साहित्य के योद्धा कोई नाम ढूँढ़कर मेरी सहायता कर सकते हैं।

६. सच्चा दृष्टिकोण

स्वयं 'आलोचक' शब्द से बढ़कर 'आलोचक' शब्द की और क्या व्याख्या होगी? आलोचक तो वही है जो 'आलोचक' है। 'आ समन्तात् लोचते पश्यते इति आलोचकः' जो समन्तात्, सब तरफ़, देखता है वह आलोचक है। इस दृष्टि से कवि सब से पहला आलोचक है। आर्नल्ड के समय से हमें कवि को जीवन का आलोचक मानते रहने का अभ्यास भी होगया है। कवि के बाद हमारे तथाकथित समालोचक को इस नाम से पुकारे जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है, पर कवि पर हम आलोचना का भार नहीं रखते, क्या कारण है?

कारण यह है कि आलोचना का अर्थ हम शास्त्रीय अभियोग के वाक्य-समूह को ही समझते हैं, और उस अवस्था में यह आवश्यक नहीं माना जाता कि कवि शास्त्रीय रुचि या ज्ञान को अपनाये ही। हमारे ऐसे सोचने के कारण ही सारी भूलें होती हैं, समन्तात् लोचन की दृष्टि से जो कवि है वही समालोचक भी है। बल्कि कहा जा सकता है कि यदि आलोचक है तो उसके समालोचक को भी अपनी समालोचना की सार्थकता प्राप्त हो सकेगी। यदि कवि आलोचक नहीं है और समालोचक आलोचक है तो समालोचक का काम अवश्य कटु हो जायगा जो उसे, कवि को तथा दूसरों को दुःख होगा।

समन्तात् आलोचना का अर्थ क्या हो सकता है? यदि बिल्कुल भौतिक आधारों से ही अर्थ करें तो यह सम्भव है कि कोई भी सब तरफ़, सब चीज़ों और अवस्थाओं आदि को देख सके। देश से भी बड़ा संसार है, और संसार से भी

बड़ा विश्व, परन्तु अपने घर में ही मुझे नहीं मालूम कि कल मैंने अपनी छड़ी बिल्ली को मारने के लिए लेजाकर ऊपर छत पर ही छोड़ दी थी, और आज मैं अपने लड़के को झूठ-मूठ डाटता हूँ कि उसे बैठक में रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखाई देती। केवल पिता ही पिता बना रहकर मैं पिता के ही अधिकार को देखता हूँ और डाटता हूं। मैं पुत्र, या नहीं तो मनुष्य ही की दृष्टि को न देख सकने के कारण यह नहीं समझ पाया कि ग़लती दोनों से ही हो सकती है और यदि वह मुझसे ही हुई हो तो एक व्यक्ति अपने पिता तक से डाटे जाने पर क्या अनुभव करेगा ? तब, कोई हिन्दू या असहयोगी या धर्माचार्य केवल अपनी संकुचित दृष्टि से देखता हुआ ईसाई, मुसलमानों, सरकारी नौकरों या अधर्मियों के वास्तविक रूप को कैसे देख सकता है ? जो कवि इस तरह करता है वह आलोचक हुए बिना ही एक असम्भव उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेता है और चौपट गिरता है, उसका 'आलोचक' उसके इस गिरने की वीरता की सराहना कर सकता है, क्योंकि ऊपर के असम्भव भौतिक अर्थ में वह भी समालोचक नहीं है।

'आलोचक' के साथ एक 'सम्' और लगा देने से कहना पड़ेगा—सम्यक् आलोचते इति समालोचकः—जो ठीक-ठीक सब तरफ़ देखे वही समालोचक है, सम्यक् या 'ठीक-ठीक' से अर्थ दुरूह परन्तु अभिप्राय ज़रा सरल हो जाता है। 'समन्तात्' के साथ 'सम्यक' को बिठाना तभी हो सकता है जबकि आलोचक की दृष्टि ऐसी हो कि वह हरेक व्यक्ति, वस्तु या दशा को उसके यथार्थ रूप में देख सके। ऐसी दृष्टि केवल मानवता की दृष्टि हो सकती है, जिसमें स्वयं विशाल मानव होते हुए दूसरों को भी मानव ही समझकर देखा जायगा। यह मानवता की दृष्टि आगे बढ़कर भूतमात्र की दृष्टि है और सहानुभूति की दृष्टि है, और पूर्व या पश्चिम में, भूत या भविष्य में, इसकी कहीं भी रोक-टोक नहीं है। मनुष्य के कर्म, रीति-रिवाज, सोच-विचार—चाहे देश, धर्म, जाति और समय की भिन्नता से उनमें कितना ही भेद पड़ गया हो—सर्वत्र मानवीय ही हैं, मानव-हृदय के रंग से अनुरंजित हैं, यदि तुम भी मानव हृदय रखते हो तो क्या उनको ज़रा भी न समझ सकोगे ? और, मानव-हृदय रखकर ही तुम उन अमानवों को ताड़ लेने का कर्म भी ज़्यादा अच्छा कर सकते हो, जो मनुष्य न होकर या तो एक ओर केवल धर्मव्याख्याता, असहयोगी, अनपढ़, देहाती, मज़लूम या अब्राह्मण ही रह गये हैं, या फिर दूसरी ओर अधर्मी, सहयोगी, पढ़े-लिखे, शहरी, ज़ालिम या ब्राह्मणमात्र ही हैं। पर ध्यान रखना होगा, इनमें से किसी भी वर्ग के अमानव को

देखते हुए तुम्हें स्वयं मानव ही रहना है, क्योंकि भलाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही संसार के एक-सौ-एक फ़ी सदी मनुष्य में हैं—तुम में भी, मुझ में भी, मानवों में भी, अमानवों में भी! अखिल विश्वमंडल के साथ सहानुभूति की दृष्टि रक्खो, सर्वभूतहित की भावना को लेकर—बुखार दूर करने के लिए कुनैन को चीनी में लपेट कर दो—खुद भले ही एक बार चीनी में लपेटे बिना ही खालो। सुधारो, पर यह समझते हुए कि हममें भी सुधार की गुंजाइश है—तुम्हारे सुधार में संहार न हो। दूसरों की आलोचना हो तो विष के बाणों से नहीं, अपनों की पुचकार हो तो शहद की जीभ से नहीं। तब तो, हे मेरे कवि, तुम बुद्धिमान् हो, कवि हो, आलोचक हो, समालोचक हो, और तभी, हे समालोचक, तुम भी यथार्थ समालोचक हो, तभी तुम उस उत्तरदायित्व को प्राप्त होगे जो जज के भी जज का है।

समालोचक को कम-से-कम समालोचना के समय तो पूर्ण मनुष्य-हृदयवाला हो ही जाना चाहिए। तभी वह कवि के मानव-हृदय को परख कर सकेगा, पर इसके साथ, इसी सिद्धान्त के उपलक्ष्य रूप में, उसे नट भी होना चाहिए, मनुष्य-हृदय होकर वह अपने आलोच्य कवि-मानव के हृदय में भी प्रवेश कर सकता है, उसकी भावनाओं मे घुसकर—और यदि वे भावनाएँ लोकविरोधी नहीं हैं तो—कवि की स्थिति के साथ अपने को समायुक्त करके लोकसंग्रह के कार्य में सहायक हो सकता है—साधारण जनता तक कवि को अच्छी तरह पहुँचा सकता है। जितने भिन्न-भिन्न स्थितियों के कवियों की वह आलोचना करता है उतने ही भिन्न-भिन्न रूपों में उसे अपना समायोग करना होगा—राजा, राव, रंक, शहरी, देहाती, सहयोगी, असहयोगी, ब्राह्मण, अब्राह्मण, सभी कुछ समय-समय पर बनना होगा और प्रत्येक के मानवहृदय को लोकाशा की भावना से देखना होगा, मैं ब्राह्मण नहीं तो क्या हुआ, कवि के साथ मुझे ब्राह्मण बनकर देखना ही होगा कि मानवहृदय के साथ ब्राह्मण-हृदय का कैसा सामंजस्य या असामंजस्य है।

यदि ऐसा न होता तो अस्वभाव-सम्बन्धों में विश्वास रखनेवाले असंख्य संस्कृत कवि, अथवा परम वैष्णव, साकार मूर्तिपूजा के उपासक, राम को परब्रह्म माननेवाले तुलसीदास, आधुनिक निरीश्वरता, विज्ञानवाद और वेदावाद की इतनी बड़ी दुनिया में और शताब्दियों की रफ्तार से चलनेवाले इस समय-दानव की कोख में कब के हज़म हो गये होते, मूर्तिपूजा और साकार भक्ति पर प्रहार हुए हों, राम को केवल एक महापुरुष या कपोलकल्पित अस्वाभाविकता मान लिया गया हो, पशुपक्षियों के साथ मनुष्यों की बातचीत सुननेवालों, अथवा देवताओं

और मनुष्यों में अलोक सम्बन्ध स्थापित करानेवालों को असभ्य जंगली कहकर दिल के फफोले फोड़े गए हों, पर तुलसीदास और कालिदास आज तक अतुलसीदास या अकालिदास नहीं हुए। ईसाई या मुसलमान या आर्यसमाजी, बौद्ध या जैन, किसी ने भी इन पर प्रहार नहीं किया और प्रत्येक देश के आलोचकों की दृष्टि में आज तक इनके महाकवित्व का स्थान अक्षुण्ण है। इसी प्रकार बहुरूप का पेशेवर शेक्सपियर और लोकायतिक बर्नार्डशा, पापियों का सहचर विक्टर ह्यूगो और अद्भुत ईसाई टाल्स्टाय, हमारे इस आध्यात्मिक हिन्दू-देश में पूजित हैं। इसीलिए कि कहीं का कोई भी समालोचक इनके मानव-मय व्यक्ति-हृदय के साथ-साथ अपने मानव-हृदय के असंयोग की कल्पना नहीं कर सका, असंयोग की सम्भावना तभी तक रहती है जब तक कि कवि या आलोचक, दोनों में से कोई भी, या प्रत्येक ही, केवल व्यक्ति ही व्यक्ति रह जाय और मनुष्य ज़रा न हो।

यही सारांश है। समालोचक के दृष्टिकोण में यही दो-तीन बातें परम आवश्यक हैं। उसका पहला दृष्टिकोण विशाल मानवता का है। इसके उपसिद्धान्त के रूप में उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि अपनी मानवता को संभाले रहकर वह कवि के साथ अपने को मिला सके, उसकी परिस्थिति में सहानुभूतिपूर्वक अपने को रखकर उसके द्वारा प्रस्तुत मानवता पर दृष्टिपात करे और उसकी दृष्टि के इस कोण तथा उपकोण का फल या उद्देश्य होना चाहिए कवि के मानव-हृदय को लोकहित के लिए साधारण जनता तक पहुँचाना, अथवा फिर, यदि कवि में मानवता कम या बिल्कुल नहीं है तो, उसके कोरे व्यक्ति-हृदय से उस जनता को सतर्क रखना।

यदि समालोचक में यह है तो उसका शास्त्र या शास्त्रों का ज्ञान सार्थक क्यों, सोने में सुगन्ध है। शास्त्र भी मनुष्य को लेकर ही बना है, स्याही के अक्षरों को लेकर नहीं, और मानव-समालोचक के लिए शास्त्र की सारी पंक्तियाँ विशाल मानवता की व्याख्या के रूप में ही प्रोद्भासित होती हैं, पर यदि समालोचक का दृष्टिकोण ऊपर के दोनों-तीनों तत्वों से शून्य है तो शास्त्रज्ञान उसके लिए निरर्थक ही नहीं, कभी-कभी अनर्थकारी कलंकस्वरूप है। रही तीसरे दर्जे के पक्षपात की बात, सो, वह तो शायद मानव-द्रष्टा समालोचक के विषय में उठती ही नहीं।

☆

: २ :

'माधवी'*

'माधवी' के लेखक श्रीयुत ठाकुर गोपालशरणसिंह हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं। कुछ मास हुए, उनकी कविताओं का एक संग्रह 'माधवी' के रूप में हिन्दी की जनता के सामने आया है। हिन्दी के कृती कवियों और काव्यमर्मज्ञों-द्वारा इस संग्रह की आलोचनाएँ भी हुई हैं। ऐसी अवस्था में हम जैसे अनधिकारी यदि फिर एक आलोचना करने का विचार करते तो वह एक धृष्टता ही होती। हमको 'माधवी' में प्रायः सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य दिखाई देता है। परन्तु ऐसा कहने में काव्य के जौहरियों के प्रति प्रत्यर्थी का भाव हमारे मन में कदापि नहीं है। क्योंकि यह हमारा भी विचार है कि सर्वथा पूर्ण तो ईश्वर को छोड़कर, यदि ईश्वर भी सम्पूर्ण सिद्ध किया जा सकता है, तो और कोई पदार्थ नहीं हो सकता। यदि 'माधवी' में हमें दोष नहीं दिखाई दिये तो हमारी अतर्कता के कारण नहीं, बल्कि शायद इसलिए कि 'एकोऽहि दोषोगुणसन्निपाते······'इत्यादि।

'माधवी' के लेखक सहृदय, भावुक तथा अनुभवी सज्जन हैं, यह पुस्तक को एक बार पढ़ने से ही मालूम हो जाता है। परन्तु केवल सहृदयता, भावुकता अथवा अनुभव से ही कोई कवि नहीं हो जाता। सबसे बड़ी बात यह देखने की होती है कि उसने अपने कविकर्म में इन गुणों का उपयोग किस प्रकार किया है। काव्य का एकमात्र प्रधान गुण और उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह 'सद्यः परनिर्वृत्ति' का देनेवाला हो। हम यह देखते हैं कि 'माधवी' की अधिकांश कविताएँ इस कर्त्तव्य में पटु हैं। काव्य दो प्रकार का है। एक तो वह जो सात्विक भावों को उत्पन्न करके आनन्द देता है और एक वह जो चमत्कार-द्वारा ऐसा करता है। प्रथम श्रेणी का काव्य 'सद्यः परनिर्वृत्ति' का दाता होता है और दूसरी श्रेणी का 'सद्यो निर्वृत्ति' का। अतः पहला ही श्रेष्ठ है। तथापि साहित्यों के इतिहास में ऐसा समय आता है जब लोग काव्य के भाव-संकेतों द्वारा वास्तविक अनुभवों की काल्पनिक उत्पत्ति में असमर्थ होकर चमत्कार को श्रेष्ठता देने लगते हैं। क्योंकि प्रथम श्रेणी के काव्य के पढ़नेवालों को भी थोड़ा कवि होने की, चाहे वे कविता लिखते भले ही न हों—आवश्यकता होती है। दूसरी श्रेणी के पाठक तमाश-

*सरस्वती : भाग ३१, सं० ४।

बीन होते हैं, जो जादूगरी की झोली में से वृत्ताकार अतिशयोक्तियों या नागिन के समान बलखाती हुई उत्प्रेक्षाएँ निकलती देखकर आश्चर्य के आनन्द से ताली पीट बैठते हैं। 'दीनें हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु', और—'वाह वाह !' एक प्रकार के काव्य में आनन्द की उद्भूति हृदय की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा होती है, दूसरे में कुतूहली मन की अद्भुत-प्रियता के कारण। संसार में कवि-हृदय पाठकों की अपेक्षा कुतूहल-प्रिय लोग ही अधिक होते हैं। इसीसे समय-समय पर साहित्य में चमत्कारी काव्य की प्रधानता हो जाती है, और आजकल हिन्दी में भी उसी की प्रधानता है।

पर 'माधवी' में प्रथम श्रेणी के, परनिर्वृत्तिवाले, काव्य की प्रधानता है। हृदय की गंभीर और सात्त्विक भावुकताओं से लबालब भरे हुए मुक्तक छलछलाये पड़ते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी तो रसिक को सँभलना कठिन हो जाता है। स्वच्छ सागर में तरल तरंगें नाच रही हैं, रम्य वन में विविध विहंग बोल रहे हैं, मञ्जु मेदिनी में हरियाली छा रही है, गगन में ज्योति जगमग-जगमग होती है, उपवन में फूल वृन्त का हिंडोला बनाकर झूल रहे हैं। यह सब किस बात का उपक्रम है ? किसके स्वागत की तैयारी है ? आपके प्रेमिक के ? हाँ, एक सामान्य कवि ऐसा ही विश्वास दिला देता, चाहे आपका कोई प्रेमी हो या न हो। सच्चा कवि अपनी कल्पनीय अवस्थाओं का स्वयं अनुभव कर अपने पाठकों को भी साक्षात्कार का आनन्द देता हुआ उनकी कल्पना को स्वाभाविक रूप से जागरित कर उनके लिए अपनी कल्पना में वस्तुस्थिति की अवतारणा करता है। 'माधवी' का कवि इन सब स्वागतोचित तैयारियों को देखकर स्वयं मुग्ध-सा हो जाता है। आपको भी दिखाता है और फिर आपसे पूछता है :

किस अनजाने जगजीवन के स्वागत को,
उड़ रही सरस-सुगन्ध है पवन में ॥

पर, साथ ही अपनी कल्पना के संकेत द्वारा वह आपकी विकल मुग्धता को कुछ हलकी-सी करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा अतिथि कोई जगजीवन ही होगा। जगजीवन, और अनजाना। क्यों ? ये तैयारियाँ भी तो अनजानी ही हैं। लक्ष्यक्रम भावव्यञ्जना का सर्वश्रेष्ठ गौरव यही है। अलक्ष्य क्रम-व्यंग्य का भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

जाना भी न गग से मुझे है उन्हें छोड़कर,
इसलिए कठिन हुआ है मर जाना भी ॥

वियोग में मरने की शिकायत तो सब कोई किया करते हैं—वस्तुतः कवियों के

अधिकांश विरही मरते ही देखे गये हैं—परन्तु जीनेवाले कितने हैं ! न मरने का कितना बढ़िया कारण है। साथ ही वस्तुव्यञ्जना कैसी तीखी है। बात वही कही है, जो तमाम विरही कहा करते हैं; परन्तु एक अनोखे ढङ्ग से। अवस्था मरणासन्न है।

पुरानी कविता का एक श्रेष्ठ उदाहरण हमें याद है, जिसमें विरही अपनी संकटापन्न अवस्था को न तो छोड़ ही सकता है और न उसमें अपने प्राण ही दे पाता है। जायसी के राजा रत्नसेन की पत्नी उसके विरह में अपनी दशा का वर्णन करती हुई कहती है :

लागिउँ जरैं जरै जस भारू।
फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू।

काव्य-साहित्य में इस प्रकार की अनुभूति की ऐसे ढङ्ग से बार-बार आवृत्ति होती नहीं देखी जाती।

कवियों में भाव-साम्य तो प्रायः, बल्कि अधिकतर, मिल जाता है, परन्तु भिन्न-भिन्न भावों का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले कवि कम ही रहते हैं। ठाकुर साहब के ऊपरवाले उदाहरण में जायसी के भाव की आवृत्ति नहीं है, इसीलिए दोनों भाव एक नहीं बन पाये हैं, परन्तु उसकी अनुभूति उतनी ही तीव्र दृष्टिगोचर होती है।

भाव-साक्षात्कार की अनुभूति का एक और उदाहरण देखिए :

सुख से सदैव करूँ तेरे उर में निवास,
बनकर तेरा एक लघु अभिलाष मैं।

क्या विचित्र अभिलाषा है—तितिक्षु की दीनता से करुण, पर साथ ही इतना ज़बर्दस्त। मैं तो तेरे हृदय में रह ही नहीं सकता—बहुत बड़ी बात है—फिर अपनी एक छोटी-सी इच्छा के रूप में ही मुझे अपने हृदय में स्थान दे। पर इस दीन प्रार्थना के अतिरिक्त और प्रार्थनीय रह ही क्या जाता है ? बहुत-से पदार्थों को चाहते हो, मुझे भी ज़रा-सा चाह लो न !—यही तो कहना है।

भावों की ऊपरी सतह को छोड़कर उनकी अन्तस्तल तह तक पहुँचने में 'माधवी' के कवि पटु हैं। दो-तीन उदाहरण दिये गये हैं। और भी दिये जा सकते हैं। परन्तु इसके लिए शायद पूरा ग्रन्थ ही उद्धृत करने की आवश्यकता पड़ जाय।

'माधवी' में शृंगार-रस की व्यंजना करनेवाली कविताएँ अधिक हैं। परन्तु अन्य भावों की भी अनुभूति करने-कराने में कवि की दक्षता कम नहीं है। शैशव से लेकर प्रौढ़ता तक जितनी अवस्थाएँ और परिस्थितियाँ सामान्यतः देखने में आती हैं उन सब के प्रति लेखक की कवि-सहज सहानुभूति है। यहाँ दो-चार ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(१) पहन वसन पीले वनमाला मोरपंख,
घूम घूम चारों ओर मुरली बजाऊँगा।
भैया को कहूँगा दाऊ लेगी तू बलैया मेरी,
फिर क्या न भैया मैं कन्हैया कहलाऊँगा।

(२) सबसे सहज है अजान बन जाना उसे,
हरदम एक यही उसका बहाना है।

(३) आई थी नज़र एक बार हो तुम्हारी छवि,
पर याद उसकी हज़ार बार आती है।

(४) हो रहते दिल में फिर क्यों,
अपने घर में यह आग लगाई।

(५) रमणी बना है रमणीय बनने को नर,
क्या करे भला जो रमणीयता न आई है।

(६) प्यार तो तुम्हारा हमें सुलभ हुआ है नहीं,
पर मिला प्यार का तुम्हारे उपहार है।

(७) भंग हो किसी की सुखनींद जिससे न कभी,
उचित नहीं है मुझे ज़ोर से कराहना।

(८) कैसा हूँ अजान मैंने यह भी न जाना कभी,
किस ओर आना और किस ओर जाना है।

(९) मन तो गया है पहले ही उसके समीप,
किन्तु कभी जाती नहीं मन की कलक है।

वर्ड्सवर्थ ने कहा है—'प्रतिभा का एक-मात्र लक्षण यह है कि वह उन्हीं कामों को सुचारु रूप से सम्पन्न करती है जो करने योग्य हैं और कभी नहीं किये गये हैं। ललितकलाओं में, प्रतिभा मनुष्य के संवेदना-क्षेत्र को अधिक विस्तृत करके उसे आनन्द और आत्म-सम्मान का भाजन बनाती है और उसका मानव-प्रकृति के विभूषणों से परिचय कराती है, इसका अभिप्राय यही है कि जिन

भी चमका देते हैं, उसी प्रकार रसमयी और ध्वनिपूर्ण उक्ति को काव्यालङ्कार। अलङ्कार का अलङ्कार ही के लिए प्रयोग करना दूषण है

हमने कहा है कि 'माधवी' में प्रथम प्रकार के काव्य की ही मुख्यता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि 'माधवी' के लेखक अलङ्कार से विरत या उसके उपयोग में असमर्थ है। उन्होंने 'माधवी' में उसका उपयोग किया है, प्रयोगमात्र नहीं। उनका अलङ्कार साधक बनकर साध्य की अधीनता में रहता है। कर्णमोदक यमकों से लेकर गम्भीर अर्थालङ्कारों तक उन्होंने कितने ही अलङ्कारों का सुष्ठु उपयोग किया है और रस के उत्कर्ष को बढ़ाया है। उपमा, रूपक, प्रदीप, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोध, असंगति, भ्रम, संदेह, काव्यलिंग आदि के उत्तम उदाहरण 'माधवी' में देखने को मिलते हैं। दो-एक उद्धरण दिये जाते हैं :

(१) कर तू रमण मन मंगल-करण दुख-
दीनता-हरण वर राधिका-रमण में।

(२) उसका अनूप रूप दृग देख पाते नहीं,
पर वह लोचनों में आप ही समाता है।
उसका विचित्र चित्र कोई खींच पाता नहीं,
किन्तु वह उर में स्वयं ही खिंच जाता है॥

(३) किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में।

(४) देख आरसी में परछाईं पूर्ण चन्द्र की,
शिशु ने समोद निज हाथ को बढ़ाया है।
उसी क्षण चन्द्र-वदनी के मुखचन्द्र का भी,
देख पड़ा वहाँ प्रतिबिम्ब मन भाया है।
× × ×
लूँ मैं किसे और किसे छोड़ूँ हीन मानकर
इस असमञ्जस में वह घबराया है॥

(५) किन्तु बल क्या है अहो, केवल रुदन है।

(६) प्राण में उसी की मञ्जु मूर्ति है समाई हुई,
मानो उड़ती है वहाँ साँसों के विमान में॥

(७) मन तो गया है पहले ही उसके समीप,
किन्तु कभी जाती नहीं मन की कलक है।

सांग रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण पृष्ठ १७० पर 'वियोगिनी' में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त, उक्ति-वैदग्ध्य की साधु प्रवृत्ति भी कहीं-कहीं अच्छी देखने में आती है, जैसे :

(१) फूले न समाते "गुन गुन" गुण गाते हैं।

(२) जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़,
नाम के ही नाते अब मुझे अपनाओ तुम।

इन सब उदाहरणों मे हम देखते हैं कि किसी रस या भाव के पोषण के लिए ही अलङ्कार का प्रयोग किया गया है, प्रत्येक प्रयोग के पीछे भावुकता की एक लहर का प्रवाह मौजूद है जो पाठक के हृदय से छिपा नहीं रहता। अतः ठाकुर साहब का प्रयोग कृत्रिम या अस्वाभाविक नहीं हुआ है। कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि भाव के उद्रेक में अलङ्कार की उपस्थिति का पता ही नहीं चलता, यद्यपि अलङ्कार भाव की साधना करता रहता है। ऊपर के पाँचवें उदाहरण में हम इसको देख सकते हैं।

ठाकुर साहब की भाषा में उनकी अपनी विशेषता है। वह हमको कभी-कभी पुरानी 'ललित कोमलकान्त पदावली' की याद दिलाती है। माधुर्य और प्रसाद उसके प्रधान गुण हैं, जो सरस कविता के मुख्य द्वार हैं। पदावली पर जिह्वा, और जिह्वा के साथ मन, और मन के साथ हृदय, सब मानो एक परम्परा बनाकर स्वतः ही फिसलते चलते हैं—कर्णकटु वर्णों या संयुक्ताक्षरों की भरमार में उन्हें झटके नहीं खाने पड़ते। उद्धृत उदाहरणों से इसका भी पता लग जायगा। जिन संयुक्ताक्षरों का 'माधवी' में अधिकतर प्रयोग हुआ है वे 'चन्द्र', 'ज्योति', 'मञ्जु' जैसे हैं जो स्वयं बड़े मञ्जु और सुश्राव्य हैं।

अन्त में यहाँ एक बात खड़ी बोली की योग्यता के सम्बन्ध में भी कहनी है; क्योंकि श्रीयुत ठाकुर गोपालशरणसिंह की कविता खड़ी बोली में ही है। कुछ लोग ब्रजभाषा को प्यार करते हैं, जो बहुत अच्छी बात है। परन्तु कुछ लोग पक्षपात के वशीभूत होकर यह कहने लगते हैं कि खड़ी बोली कविता के उपयुक्त ही नहीं है। यह शायद उतनी अच्छी बात नहीं है। नहीं, ज़रा और आगे बढ़ कर कहीं-कहीं यह भी संकेत किया जाता है कि मीठी ब्रजभाषा ही शायद हिन्दी-कविता के लिए एकान्त उपयुक्त है; फिर ऐसी मीठी भाषा को छोड़कर तीखी बोली में क्यों कविता करते हो? मिठास और कड़वास के तर्क से तो शायद अवधी और बुन्देलखण्डी भी ब्रजभाषा के सामने कविता के लिए अप्रयोज्य ही ठहरेंगी। बेचारे तुलसीदास और केशव जी कहीं के न रहे!

परन्तु यह पक्षपात भाषाविकास के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। ब्रजभाषा के प्रति हमारी भी बड़ी श्रद्धा है और हम भी उसे मीठी समझते हैं। पर क्यों? इसीलिए कि अभी हम कुछ लोग—सब नहीं—उसे, जैसे-तैसे, थोड़ा-बहुत समझ लेते हैं। शायद सौ-पचास वर्ष बाद, जब ब्रजभाषा एकदम दुर्बोध्य हो उठेगी, ब्रजभाषा की वर्तमान प्रतिद्वन्द्विता का कोई आधार न रह जायगा, उस समय सम्भव है, किसी नई बोली के विरोध में लोग खड़ी बोली का ही पक्षपात करें। यह किसी एक बोली या भाषा को बलात् स्थिर बनाने की चेष्टा है,—यह जानते हुए भी कि मनुष्य की भाषा प्रति पचास या सौ वर्ष में अपना बहुत-कुछ रूप बदल देती है, वह स्थिर नहीं रह सकती।

अब रही माधुर्य की बात। हम समझते हैं कि माधुर्य परिचय-सापेक्ष है। एक बार कुछ दक्षिणी लोगों को बड़े ज़ोर से आपस में बहस करते सुन हमने कल्पना की थी कि मानो कई ख़ाली घड़े उनका मुँह ऊपर को करके जल-निमग्न कर दिये गये हों। परन्तु वे लोग अपनी भाषा के सम्बन्ध में ऐसा न सोचते होंगे। ब्रजभाषा की गुञ्जार अभी हम लोगों के कानों में भरी हुई है, इसीलिए हमारा ध्यान अपनी नई स्वाभाविक रूप से उपार्जित बोली की ओर नहीं खिंच रहा है। पर साथ ही ब्रजभाषा से हमारा सम्बन्ध बड़ी तेज़ी से टूटता भी जा रहा है। ऐसी अवस्था में ब्रजभाषा का अनुचित पक्षपात करने का यही तात्पर्य हो सकता है कि अब हिन्दी में या तो कविता की ही न जाय या कवि लोग पहले कुछ वर्ष तक ब्रजभाषा और उसके व्याकरण की शिक्षा ग्रहण करें और तब कविता करने का साहस करें। पर यहाँ एक प्रश्न और आ जाता है। वे कविता करेंगे किसके लिए? क्या समस्त जनता को भी ज़बर्दस्ती ब्रजभाषा का पाठ पढ़ना पड़ेगा? तब तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस भाषा में कालिदास और जयदेव ने कविता की थी वही कविता के लिए एक-मात्र उपयुक्त भाषा है।

कविता में माधुर्य भी दो तरह का होता है: सुश्राव्यता का और अर्थरमणीयता का। ब्रजभाषा सुश्राव्य है। परन्तु खड़ी बोली भी सुश्राव्य हो सकती है। जिस भाषा में प्रसाद और माधुर्य गुण विशेष-रूप से वर्तमान होंगे वही सुश्राव्य हो पायेगी। दक्षिणी लोगों की बातचीत यदि हमको डूबते हुए घड़े की याद दिलाती है, तो इसीलिए कि उसमें टवर्ग आदि माधुर्य-प्रतिकूल वर्णों की बहुलता है। 'माधवी' की भाषा इस बात का प्रमाण है कि खड़ी बोली में सुश्राव्यता लाई जा सकती है। प्रसाद और माधुर्य उसके

लक्षण हैं और उसमें संयुक्ताक्षरों की कमी है। 'चन्द्र', 'ज्योति', 'मञ्जु' आदि में जो थोड़े बहुत संयुक्ताक्षर उसमें आ गये हैं वे स्वयं बड़े मञ्जु और मधुर हैं।

अर्थ-माधुर्य की दृष्टि से हम कह सकते हैं, कि यदि ब्रजभाषा में से सूरदास आदि दो-एक कृष्ण-कवि निकाल दिये जायँ तो उसमें कुछ रह ही न जाय। सब अलङ्कार की तड़क-भड़क ही तो है। कवि शिरोमणि बिहारीलाल में अलङ्कारोक्ति की बाज़ीगरी के अतिरिक्त और क्या है? हाँ, वह बाज़ीगरी ही है। जिस प्रकार बाज़ीगर के करतब देखकर हम चमत्कृत हो जाते हैं, परन्तु साथ ही यह भी जानते है कि उसका प्रदर्शन झूठा है, उसी प्रकार बिहारी की उक्तियों को पढ़कर भी हमको एक प्रकार का ऊपरी कौतूहल ही होता है। परन्तु खड़ी बोली में भी उस प्रकार की कल्पना असंभव नहीं है। कल्पना भाषा के ऊपर निर्भर नहीं होती। स्वयं 'माधवी' में हमको ऊँची कल्पना के अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो बिहारी की टक्कर के हैं। परन्तु नहीं, वे बिहारी से ऊँचे हैं। बिहारी का एक दोहा है:

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै, आनन ओप उजास॥

इसके साथ ठाकुर साहब की इन पंक्तियों की तुलना कीजिए:

शरद-जुन्हाई-सी है गात की गोराई चारु,
आनन अनूप मानो फुल्ल जलजात है।
किस भाँति कोई कभी यह बतलावे भला,
कब दिन होता और होती कब रात है।

इन दोनों उदाहरणों की कल्पना एक ही ढंग की है। एक में मुख की कान्ति के कारण सदा 'पुन्यौई' रहती है और दूसरे में अङ्गों की गोराई और खिले कमल के समान मुख के कारण रात और दिन का ही पता नहीं लगता। परन्तु—

हम देख सकते हैं कि 'माधवी'-कार ने अपनी कविता में उत्प्रेक्षा के सन्देह का पुट मिलाकर अपने स्पष्ट कथन को भी कुछ ध्वन्यात्मक बना दिया है और उसे उपहास्य होने से बचा लिया है। पर बिहारी के दोहे में आपकी अपनी कल्पना और अनुभूति से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब बिहारीलाल कहते हैं तब आप मान ही लीजिए कि उसके चन्द्रमुख के कारण उस मुहल्ले में सदा पूर्णिमा बनी रहती थी।

: ३ :

हिन्दी का वर्तमान साहित्य और प्रेमचन्द*

सन् १९१८-१९ की एक संध्या को एक मित्र ने हमारे कमरे में आकर "सेवासदन" मांगा हमने 'सेवा-सदन' या 'सेवा-सदन' के लेखक का उस समय तक नाम नहीं सुना था। कारण यह था कि हिन्दी से थोड़ा-बहुत अनुराग होने पर भी उसके विज्ञापन उस समय तक हमारी दृष्टि में नहीं आ सके थे। हमारे मित्र ने हमें बताया कि 'सेवा-सदन' नाम का कोई उपन्यास उन्हीं दिनों निकला था, जिसकी बड़ी तारीफ सुनी जाती थी।

'सेवासदन' की ख्याति उस युग का आरम्भ थी, जो एक दो वर्ष बाद हिन्दी के लिए प्रादुर्भूत हुआ। 'सेवा-सदन' का प्रत्यक्ष रूप से उस युग के लिए कोई उत्तरदायित्व नहीं था; परोक्ष रूप से था या नहीं यह कहना कठिन है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि आगामी वर्षों में हिन्दी के लिए जो बहुत अधिक तत्परता प्रकट होनेवाली थी उसके लिए जनता को 'सेवा-सदन' और विशेष रूप से उसके विज्ञापनों ने, कुछ थोड़े अंशों में तैयार कर दिया था। लोग हिन्दी में अच्छे ग्रंथों की आकांक्षा करने लगे थे और आकांक्षा से उसके प्रति जन-साधारण का अनुराग बढ़ा। यह कह सकते हैं कि जो काम पहले 'चन्द्रकान्ता' ने किया था आंशिक रूप में उसे इस समय 'सेवासदन' ने किया।

असहयोग का समय और अनेक बातों की भाँति हिन्दी के लिए भी बाढ़ का समय हुआ। छोटे-बड़े असंख्य स्रोतों से हिन्दी के अनुराग की असंख्य धाराएँ उमड़ पड़ीं। कितने ही स्रोत बाद में रुक गये और कुछ किञ्चित् स्थायी सिद्ध हुए: उस समय ऐसे कितने ही लेखक दिखाई दिये, जिन्होंने पहले कुछ नहीं लिखा था और जिन्होंने बाद में भी कुछ नहीं लिखा। हमारे एक मुलाकाती की कवित्व-शक्ति प्रस्फुरित हुई और उन्होंने "बोल गई माइ लार्ड कुकड़ूँ कूँ" नाम का एक आठ-पेजी काव्य दो घंटे में लिख डाला।

---

*सम्मेलन-पत्रिका: भाग १, संख्या ३ व ४।

इस प्रकार की न मालूम कितनी काव्य-ग्रंथिकाएँ उस समय लिखी गई थीं और वे इतनी बहुप्रचारित हुईं कि, हमको खूब याद है, 'सेवासदन'' की भाँति 'माइ लार्ड कुकड़ूँ,कूँ' की भी फ़रमाइश एक बार हमसे की गई थी। कहानी, उपन्यास और नाटक को भी विशेष उत्तेजना मिली, जिनमें नाटकों का उद्गम मुख्य रूप से पंजाब से हुआ। तीसरा प्रकार, दार्शनिक ढंग की राजनीतिक पुस्तकों का था, जिनकी भाषा युद्धक्षेत्र की भाषा थी। 'सत्याग्रह और असहयोग' उनमें प्रमुख है। चौथे प्रकार की पुस्तकें वे थीं, जो उस समय के प्रश्नों का ऐतिहासिक रूप से विवेचन करती थीं। 'खादी का इतिहास', 'असहयोग का इतिहास,' 'हिन्दू-जाति का स्वातंत्र्य-प्रेम' आदि पुस्तकें इसी श्रेणी की हैं। सारांश यह है कि जो या जिस प्रकार की भी पुस्तक उस समय लिखी जाती थी उसके कर्तृत्व में एक ही सामान्य प्रेरणा काम करती थी—देश-प्रेम और देशोद्धार। पढ़नेवालों में भी यह प्रेरणा इतनी बलवती थी कि जो कुछ भी उसके नाम पर लिखा जाता था उसका सहज ही स्वागत कर लिया जाता। एक-दो वर्ष के लिए अच्छे ग्रन्थों या अच्छे उपन्यासों की वह स्पृहा शिथिल हो गई जो "सेवासदन" के प्रचार से उत्पन्न हुई थी।

देश और काल का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। उसके प्रभाव में कभी-कभी वे आत्माएँ आ जाती हैं जिनसे समय और मनुष्य की अनन्तता की शृंखला के क़ायम रहने की आशा की जाती है। देशकाल के मोहपाश में पड़कर इतिहासकार अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। कहते हैं, अँग्रेज़ों के लिखे हुए जो भारतीय इतिहास विद्यार्थियों के लिए विलायत से छपवाकर भेजे जाते हैं, उनमें मनुष्य का मनुष्य से—हिन्दुओं-मुसलमानों का मुसलमानों-हिन्दुओं से विच्छेद कराने के लिए घटनाओं और तथ्यों का तोड़-मरोड़ तो किया ही जाता है, पर उनमें सबसे बड़ा दूषण यह है कि वे उन विचारों और भावों के विकास की शृंखला से शून्य हैं जो अनादिकाल से भारतीयों को भारतीय बनाये रहे हैं, और आज भी प्राचीन काल के भारतवासियों से हमारा सम्बन्ध स्थिर किये हुए हैं। पर इतिहास ऊपरी या मिथ्या घटनाओं की गणनामात्र में अपने कर्त्तव्य की इति-श्री चाहे तो कर ले, काव्य ऐसा नहीं कर सकता। काव्य का कर्त्तव्य घटनाओं का उल्लेख करना नहीं है। उसका कर्त्तव्य है, उन चिरन्तन शक्तियों और रहस्यों का उद्घाटन करना, जो प्रकृति और मानवता के मर्मस्थल में जीवन-संस्कार करते हुए अतीत को वर्तमान और भविष्य से मिलाते हैं और मनुष्य की अविकल मनुष्यता की घोषणा करते हैं। तथापि काव्य भी समय के प्रभाव में पड़कर कभी-कभी अपने पथ से बहक जाता है।

हिंदी में रीतिकाल के कवियों ने काव्य की मर्यादा को नष्ट कर दिया। तब क्या आश्चर्य है, कि प्रेमचन्दजी भी समय के प्रभाव से अपने को नहीं बचा सके। उनका दूसरा उपन्यास "प्रेमाश्रम" राजनीतिक उपन्यास था। "सेवा-सदन' के प्रकाशन के बाद इन्हें जिन उपन्यासकारीय गुणों के लिए बधाई दी गई थी, उन्हें गांठ बाँधकर उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण 'प्रेमाश्रम' में उनके इस प्रयत्न की सावधानता स्पष्ट दिखाई देती है। 'सेवासदन' का भावक्षेत्र और कार्यक्षेत्र 'प्रेमाश्रम' में अत्यन्त संकुचित हो गया है। ज़िमींदारों और अधिकारियों के अत्याचार और उनकी मिथ्या कल्पनाएँ, वकालत-पेशे की बेवफ़ाई, अमलेवालों और अफ़सरों की रिश्वत-खोरवो, धनियों का मिथ्याविलास, सरकारी अदालतों का न्याय, पुलिस के हथकण्डे, यही बस इस पुस्तक में है या, फिर उनसे उद्धार पाने का सांप्रदायिक मार्ग बतलाया गया है। गाँवों के युवक समाचारपत्र पढ़ने लगे हैं। गाँधीजी के माहात्म्य से वे परिचित हैं और उन्हें मालूम है कि रूस में प्रजा ने ज़ारलीला का अन्त कर दिया है। प्रेमशंकर उनके सामने आदर्श लाते हैं और अन्त में बड़े-बड़े डिप्टी और वकील, डाक्टर और जातीयता एवं देश का सौदा करनेवाले व्यक्ति अपने-अपने व्यवसायों को छोड़कर उनके 'प्रेमाश्रम' में आकर कृषक-जीवन व्यतीत करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में वह हवा ही नहीं बहती है, जो पतितों को भी अपने शीतल स्पर्श से आश्वास-प्रदान करती है। वह ज़माना ही बीत गया, जब सुमन, कृष्णचन्द्र और गदाधर भी आपकी सहानुभूति की आशा कर सकते थे। अब तो 'प्रेमशंकर' जैसों की तूती बोलती है। क्या मजाल कि ज्ञानशंकर आपके पास निःशंका होकर बैठ सकें। क्या मजाल कि ज्वालासिंह, प्रियनाथ और रमाशंकर उस समय तक आपकी अनुकम्पा प्राप्त कर सकें, जब तक वह 'प्रेमाश्रम' मे नहीं आते हैं। इस वातावरण में मनुष्य और प्रकृति की वह सामान्य भावनाएँ नहीं, जिनसे हर कोई हर समय आनन्द उठा सके। 'रंगभूमि' भी राजनीतिक ढंग का ही उपन्यास है। हमें एक सज्जन की प्रति देखने का अवसर मिला था। उसके अंत में हमने एक जगह हाथ का लिखा हुआ यह नोट पढ़ा—"Head I known this is a swarajist novel, I would not have purchased it." असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित लेखकों ने पाठकों की व्यक्तिगत भाव-बंधना का ध्यान नहीं रक्खा—अपने ही व्यक्तिगत पक्षपातों पर वे डटे रहे।

परन्तु जैसा कि होना चाहिये था—धन्यवाद है असहयोग आन्दोलन को उससे हिन्दी के एक भविष्य की आशा हो गई; क्योंकि इसी आन्दोलन में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की भावना ने भी ज़ोर पकड़ा। भारत की और किसी भाषा में उस समय के प्रभाव से एक-दो वर्ष के भीतर ही इतना अधिक और इतना बहु-प्रकार साहित्य नहीं पैदा हुआ, जितना हिन्दी में। असहयोग-काल हिन्दी का पुनरुत्थान काल है, जिसका प्रभाव अभी तक चला आता है। उसने लेखकों और पाठकों में हिन्दी के प्रति एक स्थायी प्रवृत्ति पैदा कर दी, कितने ही ऐसे लेखकों को उत्पन्न कर दिया जो असहयोग-आन्दोलन न होने पर कदाचित् कभी भी लेखक न बन पाते। हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में आजकल कितने ऐसे ही लोगों की कविताएँ और कहानियाँ देखने में आती हैं, जिन्होंने अब से आठ दस वर्ष पहले केवल बहुत टूटी-फूटी तुकबन्दी ही की थी।

असहयोग की उत्तेजना शान्त होने पर देशोद्धार की भावुकता घट गई और लोगों के हिन्दी-प्रेम में कुछ गंभीरता आई। साहित्य के लिए, नये और उपयुक्त विषयों की तलाश हुई। इधर प्रेमचन्दजी के दो उपन्यासों और कहानियों के विज्ञापनों और प्रशंसात्मक आलोचनाओं ने साहित्य के गुण-धर्म के प्रति कुछ जिज्ञासा उत्पन्न कर ही दी। लेखकों और कवियों की रुचि के अनुसार कहीं-कहीं साहित्य-सिद्धान्तों की शोध या अधिक उपयुक्त शब्दों में 'निर्मिति' होने लगी। फल यह हुआ कि स्वच्छन्द, नवीन छायावाद आदि नये काव्य-तत्त्वों का आविष्कार देखने में आया। गद्य में, एक ओर वस्तुवाद (Realism) की पिछाड़ी पकड़कर घसीटनेवाले 'उग्र' लेखकों की अवतारणा हुई। दूसरी ओर पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने शरत-द्वितीय बनकर बंगाल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार से टक्कर खाने की कल्पना की। आश्चर्य यह था कि जिन प्रेमचन्दजी के आरम्भिक उपन्यास और कहानियों ने दूसरे लोगों में वस्तुवाद की प्रेरणा की वह स्वयं अब आदर्शवादी बनने लगे। कहानी का भी रंग बदला और उसका रंग ऐसा चढ़ा कि आज यदि लेखकशुमारी की जाय तो हिन्दी में सबसे अधिक संख्या शायद कहानी-लेखकों की ही निकले। कहानी, उपन्यास की कितनी ही शैलियाँ प्रचलित हुईं और पिछले दिनों की देशोद्धार की भावना ने अब समाजोद्धार की भावना को स्थान दिया। इन कहानियों के अन्तर्गत उन छोटे-छोटे भावुकता-प्रधान 'गल्प' लेखों को भी गिन लेना चाहिये; जिनके प्रमुख उन्नायकों में शायद पंडित विनोदशंकर व्यास और पंडित इलाचन्द्र जोशी हैं। एक और प्रकार का नया साहित्य भी कभी-कभी देखने में

आता रहा करता है और जिसे लोग अनिश्चित रूप से 'गद्य काव्य' कह दिया करते हैं। श्री वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' और श्री चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' इसी प्रकार का साहित्य है। निम्न-वृत्तियों को उत्तेजित करने-वाली कुछ अश्लील ढंग की पुस्तकें भी निकलीं, जिनका बहाना समाजोद्धार होता है। मिस या मिसेज स्फुरणादेवी का 'अबलाओं का इन्साफ़' और श्रीयुत चतुरसेन शास्त्री का 'व्यभिचार' इस श्रेणी में आते हैं। अभिप्राय यह कि असहयोग के बाद हिन्दी में एक नई सजीवता या चंचलता उत्पन्न हुई और उसके प्रचार के लिए नए-नए अनेक प्रेसों का प्रादुर्भाव हुआ। पहले लोग बंगला-साहित्य के पीछे लगे हुए थे, अब पाश्चात्य साहित्य से भी उन्होंने नाता जोड़ा और अपनी प्रतिभा के उन्मेष के लिए वे डूबते हुए सूरज की लालिमा से अनुरंजित होने लगे।

एक लेखक ने कहा है कि किसी समाज की सच्ची आत्मा, उसकी सभ्यता के सच्चे आदर्शों के सम्यक् प्रकाश का दर्शन उसकी कविता में ही होता है। कवि ही उसके व्यवस्थाकार होते हैं, क्योंकि उनकी वाणी में उस समाज के सामान्य जीवन के नियामक छोटे-बड़े उन सब तथ्यों और रहस्यों की झाँकी रहती है, जिनके बिना उस समाज का अस्तित्व असम्भव है। शैली (Shelly) के अनुसार ऐसी ही कविता, जीवन की कविता, की हमको आवश्यकता है। परन्तु दुर्भाग्य से असहयोग के परवर्ती काल की कविता में, उसकी चपलता होते हुए भी, हमें हिन्दुओं के यथार्थ जीवन का आभास नहीं मिलता। कहाँ मिलता है?—'घासलेटियों में, या छाया-वादियों में, या आदर्श-प्रवर्त्तकों में? देश के हृदय की धड़कन, उसकी नाड़ी की सच्ची गति का कहाँ पता चलता है? अठारहवीं शताब्दी की अँग्रेज़ी कविता के सम्बन्ध में कहा गया है—"The poetry of the 18th century had been distinguished by high excellence of artistic form, but had exhibited two great defects; it ignored Nature and it treated man as having intellect but no feeling; it could please his mind but not touch his heart."

वही बात वर्तमान हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जिसमें विचार और लेख की शैली के ऊपर ही सारा ज़ोर दिया जाता है। हमारे

वर्तमान लेखक किसी अनुभव की प्रत्यक्ष संवेदना उत्पन्न करने और कराने में असमर्थ होकर कल्पना के टेढ़े मार्ग का आश्रय लेते हैं।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में कल्पना और मनोवेग, दोनों, कविता के आवश्यक गुण हैं। हमारे यहाँ कल्पना गौण है। रस मुख्य है, जो मनोवेगों से उत्पन्न होता है। कल्पना चमत्काराश्रयी है और अलंकार उसका रूप है। अलंकार का प्रयोग सहायक रूप से हो तो बड़ा श्रेयस्कर है, अलंकार को काव्य में सर्वस्व बनाना ठीक नहीं। रस-प्रधान काव्य उत्तम समझा जाता है, जिसमें रस और अलंकार समान रूप से प्रधानता ग्रहण करते हों, वह मध्यम, और जिसमें अलंकार की ही प्रधानता हो वह अधम। "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" यदि कहीं काव्य अनलंकृत भी हो तो भी कोई हानि नहीं। बाद के लोग तो इतना भी नहीं कहते। 'रसात्मकं वाक्यम्', में ही वे काव्य का समस्त रहस्य निहित कर देते हैं। परन्तु हमारे आज कल के साहित्य में केवल कल्पना-ही-कल्पना का राज्य है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और बाबू मैथिली-शरण गुप्त आदि पुराने हो गये। यदि संक्षेप में कहा जाय तो आजकल की अधिकांश कविता एक मात्र 'सी' में समाप्त हो जाती है।

कल्पना मस्तिष्क की उपज है और मनोवेग हृदय की। पिछले दिनों की साहित्य-जिज्ञासा का फल हमारे मस्तिष्क को उत्तेजित करना ही हो सकता था। इसीलिए हमारा वर्तमान साहित्य विदग्धता-प्रदर्शन की ओर झुक पड़ा। या तो कठिन दार्शनिक मीमांसाएँ अथवा कथा-पत्रों के ऊँचे दार्शनिक ढंग के शास्त्रार्थ, कट्टर आदर्शवाद; या फिर दुरूह कष्ट-कल्पनाएँ, प्रच्छन्न उपमाएँ, अस्पष्ट या असमर्थ भावों की भावना-रहित भावना—यही इस वैदग्ध्य-चेष्टा का सार है। कुछ नहीं, बस :

"Blank misgivings of a creature,
Moving about in world not realised."

ऐसे ही काव्य और कवियों के संबंध में इंग्लैण्ड का कवि कीट्स कह गया है :

...............Beauty was awake :
Why were ye not awake ? But ye were dead
To things ye knew not of —were closely wed
To musty laws lived out with wretched rule.

ही सृष्टि की जाती है। कदाचित इसी पर श्रीयुत पदुमलाल बख्शी ने लिखा है—"परन्तु एक कल्पना ऐसी भी है जिसे कला का श्रेष्ठ आदर्श न मानने के लिए साहस चाहिए। वह है कवि की मिथ्या अनुभूति की कल्पना। जगत् में सौंदर्य है, पर यह सौंदर्य उसी के लिए है जो उसका अनुभव करना चाहेगा। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सौंदर्य के विषय में पहले ही से एक साँचा बनाये रखते हैं। जब वे कहीं कुछ देखते हैं तब वे उसमें सौंदर्य नहीं देखना चाहते, वे सिर्फ़ यही देखना चाहते हैं कि वह रूप किस प्रकार बदला जाय जिससे वह उनके साँचे में आ सके।"

कल्पना की इस मिथ्या अनुभूति के निर्माण के लिए कभी-कभी उद्देश्य की तलाश करनी पड़ जाती है। इसका प्रमाण आजकल के साहित्य में रोज देखने को मिलता है। समाज-सुधार के दो-चार बँधे हुए प्लॉटों को लेकर आज कल न मालूम कितने उपन्यास लिख डाले जाते हैं। हम यह मानने को तैयार नहीं कि इन उपन्यासों के सब लेखकों के हृदयों में विधवाओं के करुण-क्रन्दन की तीव्र वेदना के फोड़े कसक रहे हैं अथवा सब लेखक अबलाओं के पक्ष में अपनी आवाज़ मिलाकर स्वयं अबला बनकर धर्मराज के दरबार से उनका न्याय कराने के लिए रात-दिन छटपटाया करते हैं। बात केवल इतनी है—एक उपन्यास लिखना था—उसके लिए एक विक्रेय प्लाट की कल्पना करनी भी आवश्यक ही थी—समाज-सुधार के उद्देश्य ने उसमें सहायता पहुँचाई। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि काव्य या साहित्य में उद्देश्य का होना सर्वथा बुरा है। वास्तव में, प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में ही स्वाभाविक उद्देश्य रहता है। वर्ड्स्वर्थ ने अपनी कविताओं के सम्बन्ध में लिखा है :

"Not that I always began to write with a distinct purpose formally conceived; but habits of meditation have, I trust, so prompted and regulated my feeling that discriptions of such objects as strongly excited those feelings will be found to carry along with them a purpose."

इसमें meditation शब्द का अभिप्राय उस हठपूर्ण चिन्तन से नहीं है, जिसका उदाहरण लेखकों की दुरूह उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं अथवा अर्थहीन तथा अतिभ्रान्त छाया-कल्पनाओं में मिलता है। यह meditation योगी की समाधि है, जिसमें भावना के विषय को प्रत्यक्षतम अनुभव में

लाया जाता है। इसी चिन्तन के द्वारा ब्रह्मानन्द सहोदर की अवस्था को प्राप्त होकर कवि अपने विषय का साक्षात्कार करता है; और फिर जो कुछ वह लिखता है वह उसके हृदय का उद्गार बनकर निकलता है।

हमारे वर्तमान साहित्य को अभी ऐसे लेखक प्राप्त नहीं हुए हैं जो उपर्युक्त गुणों से विभूषित हों। साहित्य हमारे अधिकांश लेखकों का पेशा है, वह उनके यथार्थ जीवन का उच्छ्वास नहीं है। वे कहते हैं—इसलिए नहीं कि कहे बिना रह नहीं सकते, बल्कि इसलिए कि 'कुछ न कुछ कहना ही चाहिए' की समस्या से दौड़-धूप मची हुई है, जिसमें हर तरह की कसरतें दिखाई जाती हैं; और प्रत्येक कसरत का अति-संस्कार किया जाता है। न मालूम कितने 'वाद' का संभव हो चुका है। वैचित्र्य का उन्माद बराबर जारी है। हमारे यहाँ के अनेक वयस्क विद्वान् साहित्य की इस प्रगति से सन्तुष्ट नहीं हैं और उन्हें उसमें ह्रास के घोर लक्षण दिखाई देते हैं। इस प्रगति में साहित्य की उस अंग-पुष्टि के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते, जिससे वह अमरता प्राप्त करता है। भास के नाटक मर-मरकर भी जी उठे, परन्तु आधुनिक साहित्य में कितने ऐसे ग्रंथ हैं, जो दस-बीस, पचास वर्ष तक भी रह जायँगे? इनमें हृदय की स्वाभाविक गति कम दिखाई देती है, ऊपरी आडम्बर बहुत। जिस प्रकार आजकल की सभ्यता के चालचलन में उसी का मान होता है जो पार्टी में बैठकर बनावटी हँसी हँस सके, बनावटी गम्भीरता दिखला सके, बनावटी चुप्पी से चुप रह सके, बोलने की आवश्यकता न होने पर भी बोल सके—जाने कम परन्तु बात करने में इतना तेज हो कि सुननेवालों पर अपनी छाप डाल दे। हाँ, ऐसी ही सभ्यता वर्तमान हिन्दी-साहित्य की भी है। बात की सरसता की इतनी चिन्ता नहीं है—उसके ढंग में मस्तिष्क की किसी मनोभेदक करवट का चित्र अवश्य होना चाहिए जिससे "देखी जो शक्ले यार तो तबियत मचल गई"—उसकी कल्पना इतनी विकट हो कि पाठक उसमें उलझकर फिर बहुत देर तक सुलझ ही न सके। चाहे उस कल्पना के परिश्रम में कितनी रातें क्यों न व्यतीत हों। कालिदास और तुलसीदास की कल्पना हमें अब न चाहिए। हम जिन कल्पनाओं का आदर करेंगे वे इस प्रकार की होंगी—"अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो, जिससे मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा के शरच्चंद्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ और तुम्हारा सुरभि निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।" शायद आजकल के ही-जैसे कष्ट-कल्पित कृत्रिम साहित्य की रचना नीलकण्ठ दीक्षित के समय में भी होने लगी थी तब उसने कहा था :

यः संरम्भः कृति विचरने दुष्कवीनामभेद्यो
यच्चैकाग्र्यं तदुचित पदान्वेषणो चित्तवृत्तेः।
लभ्यं तच्चेदपि कवयतामन्ततस्त्रीण्य हानि
स्यादेवं किं सरस कविता राज दुर्भिक्षयोगः॥

और फिर इस पर विलख कर वह कहता है :

विज्ञप्तिः श्रूयतामेका विधातः करुणा यदि।
मूकान्सृज कविम्मन्यान्वधिराण्वेदुपोऽथवा॥

विग्धता की इस उन्मार्ग चेष्टा—अथवा कहें कि आन्दोलन ? का असह-के 'कुकड़ूँ कूँ'—विषयक व्यवसाय से भी अधिक प्रसार हुआ है। असहयोग की एक उत्तेजना मात्र थी और उसी उत्तेजना की क्षणिक-प्रेरणा में उस समय का साहित्य उद्‌भूत हुआ था। वह आते ही लुप्त हो गया। वर्तमान साहित्य उसी उत्तेजित प्रेरणा का उत्तरफल है। इसने लोगों के अक्षुब्ध मस्तिष्क पर अधिकार जमाकर स्थायित्व प्राप्त करने की चेष्टा की है। दुर्भाग्य यह है कि हमारे अच्छे-अच्छे लेखक और कवि भी अज्ञात रूप से उसकी ओर खिंचे हैं। श्री जयशंकर प्रसाद जैसे भावुक और वास्तविक प्रतिभावाले विद्वान् भी उससे न बच सके। उनके नाटक स्थान-स्थान पर कठिन शास्त्रार्थों के पाठ-ग्रन्थ बन गये हैं और 'विशाख' से लेकर 'स्कन्दगुप्त' तक इन शास्त्रार्थों की वर्धमान गहनता की एक स्पष्ट शृंखला देखने में आती है। भाषा भी धीरे-धीरे अधिक जटिल और अलंकृत होती गई है।

प्रेमचन्द जी में भी इस नये आन्दोलन का परिणाम स्पष्ट देखने में आता है। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के पात्रों के सम्मुख कभी-कभी ऐसी कठिन तार्किक समस्याएं उपस्थित होती हैं कि पात्र तो पात्र पाठक भी उनमें प्रायः फंस जाते हैं। ये समस्याएँ अपने स्वभाव से उत्पन्न नहीं हैं, लेखक को उनकी उपस्थिति का ज्ञान है। यह बात इस प्रकार मालूम होती है कि कभी-कभी स्वयं लेखक भी पाठकों के सामने ऐसी समस्याओं को उपस्थित करता है और उन पर बहस करता है। 'प्रसाद' के नाटकों के उच्च दार्शनिक ढंग को हम यदि चाहें तो उनकी विचारशैली का विकास कह सकते हैं, परन्तु प्रेमचन्द जी की दार्शनिकता समय की तरंग का ही फल है, इसमें सन्देह नहीं! क्योंकि 'सेवासदन' और 'वरदान' में हमें उसका पूर्ण रूप देखने को नहीं मिलता, जैसा कि प्रसाद के 'विशाख' में थोड़ा-बहुत मिल जाता है। इसके अतिरिक्त

मुन्शी प्रेमचन्द ने अपनी लेखनशैली में भी कुछ अधिक साहित्यिकता लाने का प्रयत्न किया है। पहले उनकी उपमाओं का ढंग था—'उनकी दशा उस बालक की-सी हो रही थी जिसका हमजोली उसे दांत काटकर भाग गया हो'—अब यह है—'धवल के समान उज्ज्वल' 'पराग के प्यासे मकरन्द के समान' आदि। लेखक की उत्तरोत्तर उपचार्यमान आदर्शवादिता भी वैदग्ध्य-प्रदर्शन का ही फल है, जिसमें इस युग की समाज-सुधार-चेष्टा का भी उत्तरदायित्व है। प्रेमचन्द जी के उद्योग के इस नवीन परिष्कार में हम एक नये प्रयास-बीज को भी पाते हैं जो वर्तमान साहित्य में अन्यत्र उतना देखने में नहीं आता। 'रंग-भूमि" में वैचित्र्यवाद (Romanticism) का-सा कुछ आभास मिलता है जो "कायाकल्प" में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। इसके साथ ही साथ अप्राकृतिक का भी सम्मिश्रण है, जिसका बीज 'प्रेमाश्रम' और 'मृत' में ही बो दिया गया है और जो "कायाकल्प" में पहुँचकर वृक्ष बनने की तैयारी करने लगा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आधुनिक प्रेमचन्द समय के परिवर्तनों की ही प्रसूति हैं। जिस प्रकार सामान्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ बदलती गई, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी के भी विचारों, भावों, लेखनशैली आदि में परिवर्त्तन होता गया। उनका अपना जो कुछ साहित्यिक व्यक्तित्व हो सकता था वह 'सेवासदन' और "वरदान" में समाप्त हो गया। यही बात कहानियों के विषय में भी है। 'प्रेमपूर्णिमा' और 'सप्तसरोज' की व्यापकता बाद की कहानियों में देखने को नहीं मिलती। परन्तु कहानियों से उनके विकास के क्रमागत इतिहास का पता इतनी सुलभता से नहीं लग सकता जितना कि उपन्यासों से। कारण, उनकी कहानियों के संग्रहों से भिन्न-भिन्न कहानियों के निर्माणकाल का यथार्थ क्रम प्राप्त नहीं होता।

वर्तमान वैदग्ध्य युग की एक और विशेषता का ज़िक्र करना अभी रह गया है। इस काल में समालोचना की ओर भी लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। जहाँ तक हमारा अनुमान है आधुनिक साहित्य की समालोचना का आरम्भ 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के विज्ञापनों और बाबू रामदास गौड़ की लिखी हुई प्रेमचन्द के उपन्यासों की भूमिकाओं से हुआ है। यह विज्ञापन और भूमिका-लेख अधिकतर प्रशंसात्मक ही थे, जैसा कि स्वाभाविक भी था। परन्तु बाद में विरोधात्मक समालोचनाएँ भी होने लगीं। इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं में आलोच्य ग्रंथों के गुण-दोषों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं रक्खा गया—उन का प्रयास प्रायः अपने-अपने पक्षों के समर्थन में ही नष्ट हुआ। मैथ्यू आर्नल्ड

ने समालोचना के तीन वर्ग किये हैं—शुद्ध या निर्विकार आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना और वैयक्तिक आलोचना। इनमें पिछले दो को उसने निंद्य ठहराया है। ऐतिहासिक आलोचना के संबंध में उसने जो कुछ कहा है उससे तो हम पूर्ण रूप से सहमत नहीं है, परन्तु वैयक्तिक आलोचना से अवश्य बचना चाहिए। प्रेमचंद-सम्बन्धी प्रारम्भिक आलोचनाएँ वैयक्तिक ही थीं। उनमें प्रशंस्य ग्रंथों के काव्यगुणों की उतनी मीमांसा नहीं थी, जितनी कि लेखक के व्यक्तिगत महत्त्व और उसके इतिहास की। विरोधात्मक आलोचनाओं में भी कदाचित् यह दोष था, परन्तु उनमें एक बात थी—वे पाठकों के विचार के लिए कुछ बातें अवश्य पेश करती थीं।

विरोधात्मक आलोचनाएँ और वे आलोचनाएँ, जिनमें गुणों के साथ-साथ दोषों का भी विवेचन रहता है, लोगों को, मुख्यतः प्रशंसकों और लेखकों को, पसन्द नहीं आतीं। ऐसी आलोचनाओं के लेखकों से कोई शिकायत तो नहीं की जाती, परन्तु उनके संबंध में प्रायः यह कह दिया जाता है—"क्या समालोचक महाशय स्वयं भी ऐसा उपन्यास या काव्य लिख सकते हैं?" परन्तु ऐसा कहना सुरुचि का द्योतक नहीं है। अपने नए बंगाली कुर्ते में उन्होंने दर्ज़ी को कितने ही दोष निकालकर दिखाये होंगे, परन्तु उन्होंने यह एक बार भी नहीं सोचा होगा कि क्या हम भी ऐसा कुर्ता बना सकते हैं? संसार के बड़े-बड़े समालोचक श्रेष्ठ कवि भी रहे हों यह बात विश्व-साहित्य के इतिहास से प्रमाणित नहीं होती। आलोचक का कर्म दूसरा है, कवि का कर्म दूसरा।

पंडित अवध उपाध्याय ने हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का एक नया ढंग निकाला। इसमें उन्होंने गणित के चिन्हों द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्रेमचन्द का कोई पात्र किसी पाश्चात्य उपन्यास के किन-किन भिन्न पात्रों के मेल से तैयार हुआ है अथवा कोई पाश्चात्य पात्र प्रेमचन्द के यहाँ किन-किन भिन्न व्यक्तियों में विच्छिन्न कर दिया गया है। इसी प्रकार उन्होंने घटनाओं के संश्लेषण और विश्लेषण का पता निकाला। परन्तु इस ढंग को उन्होंने शीघ्र ही बन्द कर दिया। प्रेमचन्द जी के अन्य आलोचकों में श्रीयुत हेमचन्द्र जोशी, इलाचन्द्र जोशी, राजबहादुर लमगोड़ा, रामचन्द्र टण्डन आदि हैं। इनमें सबसे अधिक साधु आलोचनाएँ श्रीयुत रामचन्द्र टण्डन की हुई हैं; परन्तु मालूम होता है, अब उन्होंने लिखना बन्द कर दिया है।

प्रेमचन्द जी की आलोचनाओं से फिर अन्य नये तथा पुराने लेखकों की आलोचनाओं की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इनी-गिनी आलोचनाएँ

वर्तमान साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी लक्ष्य करके लिखी गई। आलोचना की आलोचना में भी कुछ लेख लिखकर प्रकाशित किये गये। इसके अतिरिक्त कुछ आलोचनाओं ने अपने कार्य के लिए अधिक गम्भीर, यद्यपि कम दुश्वर, क्षेत्र को चुना। इन आलोचनाओं में किसी पुस्तक, लेखक या साहित्य विशेष की ओर लक्ष्य न रखकर, साहित्याङ्गों के सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना की गई। इस प्रकार की समालोचना के रूप में प्रेमचन्द जी ने भी कुछ लिखा है। छः-सात वर्ष पहले 'माधुरी' में उपन्यास पर उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था। तद-तिरिक्त अपने कुछ संग्रहों अथवा दूसरे लेखकों के उपन्यासों की भूमिका के रूप में भी उन्होंने थोड़ा-बहुत लिखा है। 'चाँद' के गल्पाङ्क में कहानी की उपयोगिता के ऊपर उनका एक भद्दा-सा लेख है।

वैदग्ध्य-युग में प्रागसहयोग-काल की अपेक्षा नाटक लिखने की प्रवृत्ति भी कुछ अधिक दिखाई दी और कई अच्छे अच्छे नाटक निकले। पण्डित 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' और श्रीयुत सुदर्शन का 'अंजना' अच्छे नाटक हैं। इधर बाबू जयशंकरप्रसाद ने भी अपनी श्रेष्ठ नाटक-कला का परिचय दिया है। मुंसी प्रेमचन्द ने भी दो नाटक प्रकाशित किये। परन्तु उन्हें समय रहते ही अपनी त्रुटियों का पता लग गया और उन्होंने फिर कोई नाटक न लिखा।

अँग्रेज़ी साहित्य की ओर बढ़ती हुई लोगों की वर्तमानकालिक प्रवृत्ति में भी श्री प्रेमचन्द ने योग दिया और उनका Thais का अनुवाद 'अहंकार' और Silasmarner का रूपान्तर 'सुखदास' देखने में आए। उन्होंने कुछ अंग्रेजी प्लाटों को लेकर "मौलिक रचनाएँ भी की हैं, जिनकी सूचनाएं प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। 'प्रेमाश्रम' में दिया हुआ अन्तर्नाटक The king is Dead, Long Live the King का अनुवाद है।

वर्तमान काल में समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की भी अच्छी पैदावार हुई है। जिसके उपलक्ष में सम्पादन-कला का नाटक बड़ी धूम-धाम से खेला जाता है। इन पाँच-छः वर्षों के बीच में जितनी नयी पत्रिकाएँ निकलीं, उन्होंने अधिकांशतः प्रकाशक और सम्पादक की अद्वैतता के नवीन सिद्धान्त का ज़ोर-शोर से प्रचार किया। 'चांद' के सम्पादक स्वनामधन्य मिस्टर सहगल और 'सुधा, के संपादक हिन्दी के प्राचीन कवि और लेखक बाबू दुलारेलाल भार्गव इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में समझे जाने चाहिएँ। देखादेखी देवी 'मनोरमा' सम्प्रसादन भक्त

शिरोमणि जी ही करने लगे और शिशु 'भारतेन्दु' निर्मल जी की संपादकता से ही सनाथ हुआ। मालूम होता है, साहित्य-कामुकता का सबसे बड़ा निर्वाण प्रकाशन में है, अथवा साहित्यज्ञता प्रकाशन का स्वाभाविक फल है। इसी से टक्कर खाती हुई दूसरी धारणा शायद यह है कि जिस प्रकार प्रकाशक का जन्म-सिद्ध अधिकार सम्पादन है, उसी प्रकार एक सफल कहानी-लेखक को भी अवश्यमेव सरल सम्पादक होना चाहिए। इसी धारणा के अनुसार प्रेमचन्द जी पहले 'मर्यादा' के सम्पादक हुए, जो उनके सम्पादनकाल के बाद ही अस्त हो गई, और अब वह 'माधुरी' की युगल-सम्पादकता के अद्धांक हैं। परन्तु हमारे एक मित्र, जो हिन्दी की एक प्रमुख पत्रिका के सम्पादक भी रह चुके हैं, कहते थे कि प्रेमचन्द जी कहानी लिखने में भले ही श्रेष्ठ हों, परन्तु लेख लिखना उनसे बिल्कुल नहीं आता। प्रमाण में उन्होंने 'गल्पांक का प्रस्ताव' और प्रस्ताव द्वारा लिखे गये विरुद्ध समालोचनाओं के उत्तरों का उदाहरण दिया था।

वर्तमान साहित्य की धींगाधींगी से जो निराशा वयस्क विद्वानों को हुई है उसका ज़िक्र आ चुका है। यह निराशा यथार्थ है। परन्तु उसमें एक दोष भी है। वह आगे को नहीं देखती। बाढ़ के समय कितना कूड़ा-करकट इधर-उधर से बहकर आ जाता है और उसके उपरान्त घासफूँस की भी कितनी स्वाभाविक उपज होती है। परन्तु यह कूड़ा करकट और घास-फूँस भविष्य की दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक नहीं होता। कभी-कभी उसके साथ कितने ही खाद के पदार्थ भी आकर भूमि में इकट्ठे हो जाते हैं। घास-फूँस तो निकाल कर फेंक दिया जाता है, पर शोधन की इस क्रिया द्वारा भूमि का जो संस्कार होता है वह स्वास्थ्यप्रद होता है। फिर परिवर्तनकाल में प्रत्येक साहित्य की ऐसी अवस्था होती भी है। दूसरी बात जनता की मनोवृत्ति की है। इसका प्रभाव भी बड़ा भारी पड़ता है और वह समय-समय पर साहित्य के रूप का निर्णय किया करती है। कहते हैं, साहित्य का भी एक फ़ैशन हुआ करता है जो किसी विशेष काल की व्यापक मनोवृत्ति का अनुसरण कर अपना रूप परिवर्तन करता रहता है डिजरायली ने लिखा है कि जिस वृत्ति के अनुसार लोगों के कोट और टोपियों के फ़ैशन बदलते रहते हैं, उसी के अनुसार गद्य और पद्य का भी रूप और आदर्श बदलता रहता है। पाश्चात्य साहित्य का उदाहरण देते हुए वह लिखता है :

"At the restoration of letters in Europe, commentators and compilers were at the head of the

literati; translators followed who enriched themselves with their spoils on the commentators. When in the progress of modern literature writers aimed to rival the great authors of antiquity, the different styles in their servile imitations clashed together; and parties were formed who fought seperately for the style they chose to adopt..... „

हिंदी के वर्तमान साहित्य की ठीक यही अवस्था है। विदग्धता की दौड़ में अलग-अलग सम्प्रदाय बन गए हैं। इस नये क्षेत्र में खोज के लिए पहले भटकना ही भटकना है। फिर कहीं कुछ हाथ आयेगा। परन्तु क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार कुछ हाथ आयेगा अवश्य। केवल इस समय की उधेड़ बुन से थोड़ा सावधान रहने की आवश्यकता है और सौभाग्य से वह सावधानता थोड़ी बहुत हमारे साहित्य में विद्यमान है।

☆

: ४ :

प्रेमचन्द की कला*

प्रेमचन्द जी की हिंदी के क्षेत्र में काफ़ी प्रसिद्धि है। उन्होंने अपनी यह प्रसिद्धि कहानी और उपन्यास लिखकर प्राप्त की है। ऐसी दशा में उनकी रचनाएँ आलोचना की वस्तु हो गई हैं और पिछले दिनों उनकी अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार की आलोचनाएँ हुई भी हैं। इस लेख में हम इस बात का विचार करेंगे कि वे किस श्रेणी के लेखक हैं; उनकी रचनाओं में कहाँ तक कला का परिपाक हुआ है। परन्तु इस पर विचार करने से पहले हमको यह निर्धारण कर लेना आवश्यक है कि हम उनको किस पहलू से देखेंगे। प्रेमचन्दजी हमारे सामने कितने ही रूपों में विद्यमान हैं—उपन्यासकार के रूप में, नाटक-कार, सम्पादक और निबन्ध-लेखक के रूप में। अच्छा तो हमको उनकी कला की खोज के लिए इस सब विस्तृत रूपावली में घूमना पड़ेगा या कुछ रूपों को निकाल देने से भी काम चल सकता है। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। लोग प्रेमचन्दजी को पत्रकार और निबन्ध-लेखक की हैसियत से नहीं जानते। 'चाँद' के 'गल्पाँक का प्रस्ताव' और पुस्तकों की भूमिकाओं के लेखक तथा अपने विरुद्ध समालोचनाओं का उत्तर देनेवाले प्रेमचन्द से लोग विशेषरूप से नहीं परिचित हैं। उनके प्रहसनों को भी पाठक-जनता नहीं स्वीकार करती है। हाँ, उनके प्रसिद्ध मोटेराम शास्त्री के जन्म और उनके भिन्न-भिन्न जाति-संस्कारों ने प्रेमचंद जी को कुछ विपरीत स्थिति में अवश्य डाल दिया है। 'संग्राम' और 'कर्बला' में अभी कुछ प्राण है,—शायद इसलिए कि ये पुस्तकाकार हैं और उद्योगी प्रकाशकों के यहाँ उनका भरण-पोषण होता है—परन्तु हिन्दीवाले इन्हें भूल-सा ही गये हैं। यद्यपि एक-आध मित्र ने इनकी यथेष्ट प्रशंसा की थी, तथापि दोनों नाटक लोक-रंजन करने में असमर्थ रहे। अनुवादक और रूपान्तरकार के रूप में तो कला की अधिक आशा की ही नहीं जाती, इसलिए उनके 'अहंकार' और 'सुखदास' भी विस्मृति-लोक की ही सम्पत्ति हैं। यही दशा 'महात्मा शेखसादी' की भी है। 'माधुरी' के सम्पादक और अब से छः वर्ष पहले

---

* सरस्वती, भाग ३०, संख्या २।

स्वर्गीय 'मर्यादा' के स्थानापन्न सम्पादक के रूपों की चर्चा जनता में न है और न हुई है। अब उनका उपन्यास-कार और कहानी-लेखक का रूप रह जाता है। हिंदी-जनता उनके इन्हीं रूपों में अपनी भक्ति-भावना और कलान्वेषकता को सार्थक करने की चेष्टा में है। अतएव हम भी इसी लोकमान्य आश्रय को ग्रहण कर यहाँ उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करेंगे।

अपनी विवेचना से पहले हमको यह भी जान लेना होगा कि कहानी और उपन्यास क्या है। आज-कल प्रायः पदार्थों के उद्देश्य से उनका रूप जानने की चेष्टा की जाती है। प्रेमचन्दजी भी शायद ऐसा ही करते हैं। 'गल्पांक का प्रस्ताव' और 'प्रेमद्वादशी' की भूमिका में उन्होंने ऐसा किया भी है। 'प्रस्ताव' में वे लिखते हैं—"दफ्तर, कचहरी, विद्यालय, दूकान, वायुसेवन, सैर-सफ़र, कहीं जाते हो 'चाँद' का गल्पांक उठा लीजिए और चल दीजिए। रेल में तो गल्प आपके लिए अनिवार्य है......कोई कुत्ते साहब ही आपसे ख्वामख्वाह उलझ पड़े तो? गल्प आपकी छड़ी है, जिसे आप सफ़र में किसी तरह नहीं छोड़ सकते।" इस कथन का आशय अस्पष्ट है, तो भी इतना प्रकट है कि कहानी बेकारी के समय में रोचक मन-बहलाव की वस्तु है। यदि आपकी हैसियत फ़र्स्ट या सेकंड क्लास में सफ़र करने की नहीं है, दूसरे शब्दों में, यदि आप इतने बड़े व्यक्ति नहीं हैं कि मुसाहब रख सकें अथवा यदि थर्ड क्लास में आपके पास पीने को एक सिगरेट नहीं है तो आप 'चाँद' का गल्पांक उठा लीजिए। हमारी राय में साहित्यिक कहानियों को मुसाहिबों की कक्षा में डालना उचित नहीं है। प्रेमचन्दजी भी शायद 'गल्प' को इतना नीचे नहीं गिराना चाहते। ऊपर जो कुछ उन्होंने कहा है वह, मालूम होता है, 'चाँद' की गल्पों के सम्बन्ध में ही कहा है। क्योंकि अन्यत्र वे कहते हैं—"जीवन-संग्राम इतना भीषण है कि...... शुष्क और दुष्प्राप्य (? दुर्ग्राह्य) विषयों का अध्ययन करने की हममें क्षमता ही नहीं रह जाती।......यह विभूति गल्प ही में है कि वह मनोरञ्जक करते हुए (?) हमें विज्ञान, अर्थशास्त्र......आदि की शिक्षा दे सकती है।" ये विचार 'प्रेमद्वादशी' की भूमिका में और अधिक परिपक्व हो गये हैं। लिखा है—"लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है......ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे, या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत (? जागरित) करे, कहानी नहीं है।"

कहानी की यह भावना पहली की अपेक्षा अधिक उच्च है और सत्य की ओर अधिक अग्रसर होती है। इस लेख में इतना अवकाश नहीं है कि हम साहित्यिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई शास्त्रार्थ उपस्थित कर सकें। परन्तु हम प्रेमचन्दजी की व्याख्या से सहमत नहीं हैं। हमारी समझ में साहित्यिक कहानी वह है जो अपने परम मनोरञ्जन-सामर्थ्य के द्वारा रसज्ञों की कल्पना को उत्तेजित कर उनकी सत्प्रवृत्तियों को प्रेरित करती है। ये सत्प्रवृत्तियाँ धार्मिक अथवा परम नैतिक आदर्श की ही हों, इसकी आवश्यकता नहीं। और कहानी को भी यह चाहिए कि वह सत्प्रवृत्तियों को प्रेरित ही करे, डण्डा लेकर हाँके नहीं। इसीमें हमारा प्रेमचन्द जी से मतभेद है। प्रेमचन्दजी कहते हैं—'नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं' और 'योरोप की दृष्टि 'सुन्दर' पर पड़ती है, पर भारत की 'सत्य' पर'। 'सुन्दर' और 'सत्य' क्या हैं? क्या 'सुन्दर' कुरूप ही होता है अथवा 'सत्य' सुन्दर नहीं होता। और फिर, कविता में सुन्दर कहते किसे हैं? खैर। हमारा तात्पर्य यही है कि नीति और धर्म और सत्य पर इस भाँति विश्लेषणपूर्वक सारा ज़ोर डालकर प्रेमचन्दजी भारतीय कहानी-लेखक के रूप में एक स्पष्ट उपदेशक पद पर विराजमान हो जाते हैं। वे अपने पाठकों को और उनकी सत्प्रवृत्तियों को डण्डा लेकर हाँकने लगते हैं।

प्रेमचन्दजी के ऐसा सोचने का कदाचित् कारण भी है। वे उद्देश्य से रूप की व्याख्या करके शायद यह भूल जाते हैं कि उद्देश्य और रूप दो पदार्थ हैं और इसलिए कहानी की सारी ज़िम्मेदारी उद्देश्य के सिर ही मढ़ देते हैं। परन्तु यह बात व्यावहारिक नहीं है। नहीं तो वे अपनी धर्म-व्याख्या कहानी के रूप में क्यों करते हैं? जिस लिए करते हैं उसी में उनकी कहानी का रहस्य छिपा हुआ है। वे जानते हैं कि उनके पाठक उनको अपने बराबर का समझकर उनकी बात सुन सकते हैं—अपना बुजुर्ग समझकर नहीं। जिस प्रकार दो-चार मित्र आपस में बैठकर गप कह डालेंगे। सुनने-वाले ग्रहण करने योग्य वस्तु को स्वयं ग्रहण कर लेंगे। परन्तु जहाँ उनकी बातों में उद्देश्य की बू आई कि पाठक-मण्डली कह उठेगी—"ऊधो, तुम तो बौरा गये हो, जाओ अपना यह बेसुरा राग कहीं और अलापना।" वास्तव में सखा का छद्मवेश कहानी-लेखक के लिए परम आवश्यक है और जो लेखक अपने को पाठकों से जितना ही अधिक छिपा लेता है वह उतना ही सफल होता है।

उपदेशक बनने की प्रवृत्ति से एक और भी हानि होती है। लेखक को सदैव यह ध्यान रहता है कि मैं उपदेशक हूँ। उसमें अहम्मन्यता और दुराग्रह के कारण स्थान-स्थान पर भद्दी अतिरञ्जनाएँ और ढिठाइयाँ हो जाती हैं। प्रेमचन्दजी की ये त्रुटियाँ लोगों से छिपी नहीं हैं। मोटेराम शास्त्री का क़िस्सा कल ही का है। यह ज़िद यहाँ तक बढ़ी कि शास्त्रीजी पुस्तकाकार भी हो गये। हिन्दू-मुसलिम प्रश्न-सम्बन्धी कट्टर व्याख्यानो का 'कायाकल्प' की आलोचना में कुछ दिग्दर्शन कराया जा चुका है। ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचन्दजी ने ऐसा ठेका लिया है कि एक 'सेवासदन' को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निन्दनीय और उपहास्य ठहराये गये हैं और उनके जूते लगवाये गये हैं। इस प्रकार के नीति-धर्म-सत्य-पूर्ण साहित्य का कैसा रसास्वादन होता है, इसे हम अध्यापक होने के कारण थोड़ा अपने अनुभव से कह सकते हैं। 'प्रेम-द्वादशी' इन्टरमीजिएट और बी० ए० के कोर्स में इस साल शामिल हो गई है। एक रोज़ 'सत्याग्रह' पढ़ा चुकने के बाद जब हमने विद्यार्थियों से उसपर आलोचनात्मक सम्मतियाँ देने को कहा तब क्लास में तुरन्त ब्राह्मण और अब्राह्मण दलबन्दी की तैयारियाँ देखने में आईं। कहानी को तो भूलकर विद्यार्थी एक-दूसरे के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर करने के जोश में थे। एक ने कहा, "इससे रद्दी कहानी लिखी नहीं जा सकती" तो दूसरा बोल उठा, "यह सबसे अच्छी कहानी है।"

'सेवासदन' में यह बात क्यों नहीं है? उसमें भी उपदेश देने की प्रवृत्ति मौजूद है, परन्तु वह ज़िद नहीं है। कारण यह है कि प्रवृत्ति थी, पर उस प्रवृत्ति का ज्ञान नहीं था। अतिरञ्जना और दुराग्रह की कम गुञ्जाइश थी, झूठ-मूठ की ऊँची अट्टालिकाओं को न देखकर 'सेवासदन' का कथानक ज़मीन पर पैर रखकर चलता है, इसीलिए 'सेवासदन' प्रचार का उद्देश्य रखते हुए भी, प्रेमचन्दजी के अन्य उपन्यासों से अच्छा समझा जाता है। 'सप्तसरोज' और 'प्रेमपूर्णिमा' की कहानियाँ भी उसी समय की लिखी हुई हैं, और हमारी समझ में वैसी कहानियाँ प्रेमचन्दजी ने फिर नहीं लिखीं—शायद लिख भी नहीं सकते। यदि दो-चार सौ वर्ष बाद विद्वानों को प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में खोज करनी पड़ी तो, हमारा अनुमान है, आज-कल पृथ्वीराजरासो की तरह 'सेवासदन', 'प्रेमपूर्णिमा' और 'सप्तसरोज' को भी लोग जाली ही कहेंगे।

सृष्टि के पदार्थों में विकास का नियम है। फिर जिस प्रकार पदार्थों का

विकास होता है उसी प्रकार गुणों का भी। जो निर्बल पदार्थ या गुण प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर जीवन-संग्राम के लिए असमर्थ होते हैं वे धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। प्रेमचन्दजी को उपन्यास और कहानी-लेखक के रूप में अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलीं या यदि मिलीं तो बहुत अतिरञ्जित, प्रलोभक और कृत्रिम अवस्था में। 'सेवासदन' के निकलते न निकलते जब प्रेमचन्दजी एकदम विक्टर ह्यूगो, हार्डी और शेलो आदि की कक्षा में रक्खे जाने लगे तब यह आवश्यक था कि इससे एक प्रकार के अहम्मन्य-भाव की ही पुष्टि होती। जिन लेखक-गुणों को क्रम के साथ-साथ विकसित होने की आवश्यकता थी, प्रेमचन्दजी उनको अपने में विकास की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ देखने लगे। फलतः उन्होंने अपने प्रतिकूल आलोचनाओं का उत्तर देते हुए 'समालोचक' आदि में लिखा—"मैं क्या टामस हार्डी से कुछ कम हूँ......मैं कोई लड़का या नया लेखक नहीं, पुराना खुर्राट हूँ"......आदि ऐसी मनोवृत्ति की अवस्था में उच्छृङ्खलता का आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

परिस्थितियों की प्रवञ्चना में पड़कर होनहार लेखक अपनी विकसन-शील शक्तियों के प्रसारक्रम को रोक देता है। जिन तैयारियों की, जिन अनुभवों की आवश्यकता है, उनका ध्यान नहीं आता। प्रेमचन्दजी ने भी तो ऐसा किया। कहानी-लेखक, विशेषतः उपन्यास-लेखक का कार्यक्षेत्र विश्वमण्डल से भी बड़ा है। उपन्यास-लेखक का भ्रमण खूब प्रचुर होना चाहिए, जीवन की प्रत्येक अन्तरंग और बहिरंग अवस्था का पूरा परिदर्शन और ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे अपने कथाक्रम में ऊँचे दार्शनिक और धार्मिक तत्त्वों का प्रसंग लाना है तो उसे उपनिषदों और दर्शनशास्त्र का अनुशीलक होना चाहिए। यदि उसे तैयारी के इतने अवसर प्राप्त नहीं हुए हैं तो अपनी उच्च स्पृहा को मर्यादा के भीतर रखने की ज़रूरत है। प्रेमचन्दजी की न तो तैयारी ही ऐसी है और न उनकी कल्पना ही मर्यादा के भीतर है। वे 'सूरदास' जैसी परम ऊँची आदर्श-प्रतिमाएँ खड़ी करना चाहते हैं, जीवनान्तरों की जीवित व्याख्याएँ करना चाहते हैं, तिब्बत के बारह महीने बर्फ से ढके हुए पर्वत-शिखरों की भयानक बहार दिखाना चाहते हैं, या फिर काले-कलूटे मूर्खराज चौबेजी को एक गोरी महिला के प्रेमपाश में फँसा कर उनसे आदमियों के बीच कान पकड़कर बैठकें करवाते हैं। फल यह होता है कि जगह-जगह भद्दी अतिरञ्जनाएँ होती हैं। सूरदास के चरित्र की आलोचना करने का यह स्थान नहीं है। परन्तु जिन लोगों ने 'कायाकल्प' पढ़ा है वे राजा

महेन्द्र के जर्मन-अवतार को तिब्बत की हिमाच्छादित चोटियों पर दो रातें काटते और वहाँ खड़े हुए दो वृक्षों को देखकर अवश्य थोड़ी देर को सोचने के लिए रुक गये होंगे। वास्तव में प्रेमचन्दजी की जो सफलता है वह केवल ग्रामीण दृश्यों तथा मध्यम श्रेणी के दुनियादार चरित्रों के वर्णन में; क्योंकि ये प्रतिदिन के अनुभव की बातें हैं, इनके अध्ययन का प्रेमचन्दजी को अवसर मिलता रहता है। परन्तु वे राजा-महाराजों, गवर्नरों अथवा महात्माओं के चरित्र और रहन-सहन का चित्र नहीं खींच सकते। 'कायाकल्प' की आलोचना में हमने दिखाया है कि चक्रधर या मनोरमा के चरित्र की अपेक्षा वज्रधर के चरित्र में प्रेमचन्दजी को अधिक सफलता हुई है। 'रंगभूमि' में जितना सफल चित्र प्रभुसेवक का हुआ है उतना सूरदास या विनय का नहीं।

यहाँ प्रेमचन्दजी के नायकों की बात आती है। 'सेवासदन' को छोड़कर और सब जगह उनके नायक जीवन के सर्वोच्च आदर्शों को लिये रहते हैं। कहीं वे भटकते रहते हैं, कहीं सिद्ध-महात्मा होते हैं। इस लक्ष्य के कारण उनके चित्रण में त्रुटियाँ रहते हुए भी वे पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। प्रेमचन्दजी मनोविज्ञान के शास्त्री समझे जाते हैं, परन्तु हम इसे आकर्षण नहीं समझते हैं। वे हमारी सहानुभूति को इतना जागरित नहीं करते जितना हमारे कुतूहल को। तमाम 'रंगभूमि' का पढ़ जाइए; घटनाओं का एक भयङ्कर घटाटोप-सा मालूम होता है। नायक को दैवयोगों के चक्कर में इतनी फुर्सत ही नहीं मिलती कि वह अपने व्यक्तित्व का सम्यक् परिचय दे—वह घटनाओं के नकेल में बँधा हुआ नाचता फिरता है और परिस्थितियों के बंधन में अधिकतर आकस्मिक मनोवृत्तियों से ही काम लेता है। उसका स्वयं क्या व्यक्तित्व है, यह जानने के लिए पाठक को अधिक अवसर नहीं मिलते। पुस्तक पढ़ चुकने के पश्चात् बायस्कोप का तमाशा देखने के बाद की-सी कुछ भावना पाठक के हृदय पर अङ्कित होती है, अलौकिक काव्यरस के आनन्द की नहीं।

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में, ऐसा मालूम होता है, घटनाएँ ही प्रधान हैं—व्यक्ति नहीं। 'सेवासदन' में यह बात नहीं है। वहाँ व्यक्ति प्रधान है। घटनाओं की प्रधानता से मिलती-जुलती एक जटिलता और भी देखने में आती है। जब पुस्तक के क्रम में किसी एक नियत व्यक्ति पर स्पष्ट लक्ष्य नहीं है और घटनाएँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं तब कुछ और लोग भी उन घटनाओं से प्रधान रूप में प्रभावित होते हैं। वे भी अपनी-अपनी बारी में अनेक घटनाओं के

साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और फिर इनकी एक अपनी ही कहानी कहने को हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रंगभूमि' में अलग-अलग तीन स्पष्ट उपन्यास हैं—सोफ़िया-विनय की प्रेम-कथा का एक शृंगारी उपन्यास, सूरदास के माहात्म्य का राजनैतिक उपन्यास और जॉन-सेवक के व्यवसायी जीवन का व्यावहारिक उपन्यास। इसी से 'रंगभूमि' के नायक के सम्बन्ध में मतभेद है—कुछ लोग सूरदास को नायक कहते हैं और कुछ विनय को। शायद प्रेमचन्दजी स्वयं न बता सकें कि 'रंगभूमि' का नायक कौन है। इसी प्रकार 'कायाकल्प' में दो पृथक् कहानियाँ हैं। और 'प्रेमाश्रम' तो मानो एकदम मुन्शी वज्रधर का फटा पुराना चोगा है, जिसमें स्थान स्थान पर विचित्र रंगों की थेगड़ियाँ लगी हुई हैं। उदाहरण के लिए दोनों भाइयों का देवी सिद्ध करने के प्रयत्न में अपना सिर काट डालना ऐसी घटना है जिसका पुस्तक की अन्य किसी भी घटना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ तक तो प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का साधारण परिचय हुआ। अब उनकी कहानियों पर थोड़ा विचार करना चाहिए।

प्रेमचन्दजी की प्रारंभिक कहानियाँ यथेष्ट रूप से सफल हुई हैं। 'बड़े घर की बेटी' गरीब की हाय' आदि इस बात को सूचित करती हैं कि प्रेमचन्दजी में कहानी-लेखक के गुणों की सामग्री थी, बल्कि कला कला की दृष्टि से 'सेवासदन' की अपेक्षा ये कहानियाँ अधिक अच्छी हैं और कुछ लोगों का ठीक विचार था कि प्रेमचन्दजी उपन्यास-लेखन की अपेक्षा कहानी लिखने में अधिक कुशल हैं। परन्तु प्रारम्भिक कहानियों के बाद उपन्यास की भाँति उनकी कहानियों का भी घोर ह्रास हुआ है। नाम के जादू तथा उपदेशक-वृत्ति ने उन्हें कहीं तो 'तीव्र आलोचक' और परिहासक बना दिया है और कहीं असावधान। 'मूठ' और 'आभूषण' का उद्देश्य क्या है? क्या वह इन नामों से स्पष्ट है और क्या लेखक अपने शीर्षक के उद्देश्य को समझता है? एक में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि संकट के समय मनुष्य की प्रवृत्ति अन्धविश्वासों की ओर किस तरह दौड़ती है; परन्तु यथार्थ में, कहानी अतिप्राकृतिक मूठ के अलौकिक प्रभावों की उत्तेजनाओं से, जिनमें प्रेमचन्दजी शायद स्वयं विश्वास नहीं करते, पाठक के हृदय को क्षुब्ध और निस्पन्द कर देती है। दूसरी में, एक आभूषण-प्रिय स्त्री का पति उसके आभूषणों के लिए वर्षों विदेश में परिश्रम करता है, परन्तु जब वह रुपया जोड़ कर लौटता है तब उसे अपने ज़मींदार की संगिनी के रूप में देखता है। वह स्त्री आभूषणप्रिय थी, क्या इसी से कहानी

का स्वाभाविक परिणाम निकलता है। बाबू रामदास गौड़ ने इस कहानी की बड़ी प्रशंसा की है है, परन्तु अधिक आयु में लोगों की जैसी प्रवृत्ति हो जाती है, वे नैतिक आदर्शों और मनोहर सूक्तियों के फेर में आ गये हैं। (कहानी की चोट जिस बात में है उस के लिए कहानी का विषय कहाँ तक उत्तरदायी है, हम यह जानना चाहते हैं।) इसी प्रकार 'सत्याग्रह' के आरंभ में पाठक जिस सत्याग्रह की आशा करता है, आगे पढ़ने पर उसे उसमें निराशा होती है, और समाप्ति पर तो वह पूछता है—'आखिर प्रेमचन्द का मतलब क्या है? क्या प्रेमचन्दजी प्रमाणित करके बतला सकते हैं कि असहयोगकाल का आन्दोलन इस कहानी का विषय है अथवा उस बदनाम मोटेराम का सत्याग्रह—नहीं, नहीं, ढोंगीपन? और, क्या प्रेमचन्दजी यह भी बतला सकते हैं कि 'सत्याग्रह' कहानी है; या प्रहसन—अथवा उपन्यास?

अथवा उपन्यास? इसलिए कि प्रेमचन्दजी की बाद की कहानियों में हम अकसर एक स्पष्ट नायक को देखते हैं जो अपने व्यक्तित्व से हमारा ध्यान कहानी के विषय की ओर जाने में बाधा डालता है। हम प्रायः उस नायक का प्रारंभ देखते हैं, उसका विकास देखते हैं, और परिस्थिति-विशेष के आने पर उसकी परिणति देखते हैं। 'बैंक का दीवाला' के कुँवर जगदीशसिंह और 'शान्ति' के बाबूजी ऐसे ही नायक हैं। दोनों कहानियों में उपसंहार तक मौजूद है। यदि कहा जाय कि ये कहानियाँ संक्षिप्त उपन्यास हैं तो अत्युक्ति न होगी।

'प्रेमद्वादशी' की कहानियाँ पढ़ने से एक और भी भाव उत्पन्न होता है। जितनी अधिक कहानियाँ प्रेमचन्दजी ने लिखी हैं उतनी कहानियों की अलग-अलग सामग्री उनके पास नहीं है। 'प्रेमद्वादशी' का उल्लेख हम बार-बार इसलिए करते हैं कि प्रेमचन्दजी की समस्त कहानियों में इस संग्रह की कहानियाँ ही प्रान्त के शिक्षा-नायकों-द्वारा सर्वश्रेष्ठ समझी गई हैं। 'प्रेमद्वादशी' की कई लगातार कहानियाँ एक ही प्रकार से बढ़ती और समाप्त होती हैं। एक नीची आत्मा बहुत समय तक अपने निम्नपथ पर चलती हुई अकस्मात् किसी विपरीत अनुभव अथवा घटना-विशेष के प्रभाव से ऊपर उठ जाती है। शान्ति, कुँअर साहब, महादेव, भामा बुद्ध, झींगुर, जुम्मन, सुमान—सब एक ही प्रकार से अपना उद्धार करते हैं। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि अलग-अलग ये कहानियाँ बुरी हैं। कोई-कोई तो बड़े ऊँचे पाये की है। परन्तु यदि थर्ड क्लास का सफ़र लम्बा है और आपके पास केवल प्रेमद्वादशी ही है तो, एक के बाद एक, इन कहानियों को पढ़कर आपको कुछ परिश्रान्ति-सी मालूम होने

लगेगी—एक-एक कहानी पढ़कर हरबार किसी नई ताज़गी का अनुभव नहीं होगा, जिस प्रकार चार्ल्स गार्विस के दो-चार उपन्यास पढ़ने के लिए विशेष उत्साह नहीं होता।

ऊपर जो कुछ हमने लिखा है उसका अभिप्रायः यह नहीं है कि हम प्रेमचन्द जी की निंदा या तिरस्कार कर रहे हैं। हमने प्रेमचन्द जी की कला की आलोचना नहीं की है। आलोचना करने की न तो हममें यथेष्ट सामर्थ्य है और न इतने थोड़े स्थान में आलोचना हो ही सकती है। हमने केवल प्रेमचन्द जी और उनके पाठकों के लिए कुछ संकेत-मात्र करने का यह साहस किया है। वह भी किसी अन्तःप्रेरणा से नहीं, वाह्य परिस्थितियों के अनुरोध से। बात यह है कि जब से प्रेमचन्दजी ने हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण किया है तब से लोगों की आलोचना-बुद्धि बड़े ज़ोर से प्रस्फुटित हुई है। परन्तु जितनी आलोचनाएं हुई उनमें से अधिकांश एकदेशीय ही थीं। कोई तो भक्ति की साक्षात् मूर्ति थीं और कोई-कोई निन्दा की जलती हुई चिनगारियाँ। एक महाशय 'रंगभूमि' के विधाता के चरणों पर गिर पड़े तो दूसरे 'प्रेमचन्द की करतूत' पर उबल पड़े। आलोचना का हिन्दी में प्रादुर्भाव होते ही उसका यह आदर्श खड़ा करना उपयुक्त नहीं था। हम प्रेमचन्द जी के महत्त्व को भी मानते हैं। प्रेमचन्द जी की सबसे बड़ी प्रतिभा इसमें है कि उर्दू के माहिर होते हुए उन्होंने बड़ी जल्दी अपने को हिंदी के योग्य बना लिया—यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हिंदी पर पूरा अधिकार उनको अभी प्राप्त नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य पर उनका ऋण यह है कि उन्होंने आधुनिक कला के अनुसार कथा-साहित्य-निर्माण में पथप्रदर्शक का काम किया है। उनके ग्रंथ स्वयं कला के चाहे उतने अच्छे उदाहरण न हों, पर इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि हिंदी-साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कहानियों की जो इतनी अधिक चर्चा होने लगी है सो उन्हीं के आगम के बाद से। तीसरी और बहुत बड़ी बात यह है कि प्रेमचन्दजी समाज-सुधारक-श्रेणी के लेखकों में हैं। किस प्रकार शील और शिष्टता की मर्यादा के भीतर रहते हुए समाज की बुराइयां प्रभावशाली ढंग से हृदयंगम कराई जा सकती हैं, इसके वे एक अच्छे पथप्रदर्शक हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि प्रेमचन्द जी अपनी साधारण त्रुटियों और कट्टरताओं से ऊपर उठकर और अधिक उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आयें और झूटी भावुकताओं में अपना समय और शक्ति न नष्ट करें।

✠

: ५ :

'कायाकल्प'*

समालोचना का काम बड़ा कठिन और ऊँचा है। ऊँचा है, इसीलिए कठिन है। हिन्दी में तो अभी 'समालोचना' का अभिप्राय भी स्पष्ट नहीं है। कितने ही समालोचकों तक की राय है कि यहाँ तो उसका अभिनय मात्र होता है। छोटे से बड़े तक सभी अभिनय करते हैं। अपनी व्यक्तिगत सम्मति दे देना या किसी ग्रन्थ की अतिशय स्तुति या निन्दा कर देना ही हमारी समालोचना है।

इसका एक कारण भी है। हिन्दी में समालोच्य ग्रन्थों की कमी है। इसी से यहाँ समालोचना-शास्त्र के अध्ययन का विकास नहीं हो पाया। वास्तव में श्री प्रेमचन्द के उपन्यासों के पहले हिन्दी के अधिकांश पाठक 'समालोचना' शब्द को भी यथार्थ में नहीं जानते थे। हम इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी के कृतज्ञ हैं। प्रेमचन्द जी ने हमको कुछ ऐसी चीज़ें दीं जिनसे हमें उपन्यास-तत्त्व को जानने की उत्सुकता हुई।। आज हम भी अपनी ऐसी ही उत्सुकता का प्रदर्शन कर रहे हैं, हम भी एक 'अभिनय' करने की चेष्टा में लगे हैं। सच बात को मान लेने में कोई शर्म नहीं।

(२)

श्री प्रेमचन्दजी के उपन्यास उच्च काव्य-कला के निष्कर्ष समझे जाते हैं। काव्य गद्यमय हो या पद्यमय हो, काव्य है। काव्य की परिभाषा हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले ही कर दी थी। उन दिनों गद्य लिखने की प्रणाली अधिक प्रचलित नहीं थी। जहाँ खण्ड-काव्य महाकाव्य आदि काव्योत्तर शब्दों की परिभाषा की गई है वहाँ पढ़ने में मालूम होता है कि पारिभाषिकों का अभिप्राय पद्य-काव्य से ही था परन्तु काव्य की सामान्य परिभाषा जब एक विशेष प्रकार के गद्य पर भी ठीक उतरने लगी तब पण्डितों ने, मर्यादा का परिपालन करते हुए, उस प्रकार के ग्रन्थों को काव्य का एक पार्श्वभाग मानकर उसे गद्य-काव्य का नाम दे दिया। 'काव्य' शब्द से पद्यबद्ध काव्य का ही आशय समझा जाता है। इसीलिए हम 'पद्य-काव्य'

*सरस्वती, भाग २६, संख्या ४-५।

नहीं कहते। प्राचीन समय से चलकर अब तक की अवस्थाओं का अवलोकन करते हुए हम देखते हैं कि काव्य का अधिकार-क्षेत्र अब विस्तृत हो गया है। आरम्भ में वह परिमित और अव्यापक था। अधिक पहले, हमारी काव्य-भावना नाट्य पर ही अवलम्बित थी। अब नाट्य काव्य का एक अंग है।

'रसात्मक वाक्य' या 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' आदि को ही काव्य कहते हैं। तथापि काव्य की एक सर्वमान्य, पूर्णांग परिभाषा लोग आज तक निर्धारित नहीं कर पाए हैं। हमारे पण्डित ईसा की पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी तक काव्यार्थ की 'परिणति' पर थोड़ा-बहुत मत-भेद रखते आये हैं। आज-कल पाश्चात्य पण्डितों के व्याख्यानों को देखने पर भी यही मालूम होता है कि उनमें भी काव्य मर्म के सम्बन्ध में सब लोग सर्वथा सम्मत नहीं हैं। तथापि एक बात अवश्य है। आरंभ से अभी तक और प्राच्य से पश्चात्य तक हमको काव्य के बीजतत्त्व में कोई विकार नहीं दिखाई देता। जिसमें रस हो, अर्थात् जो शुष्कता-विहीन और रसपूर्ण हो, जो अपनी मनोरञ्जन-शक्ति द्वारा हमारी समस्त भावना और चेतना को चारों तरफ़ से सिमेटकर अपने में लीन कर ले वही यथार्थ काव्य है। जो लोग काव्य का जीवन की व्याख्या बतलाते हैं उनके शब्दों से भी काव्यार्थ की यही अन्तर्ध्वनि निकलती है। क्योंकि जब हम काव्य को जीवन की व्याख्या कहते हैं तब हम उसके स्वरूप को उसके उद्देश्य से पहचानने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु यह काव्य की स्वरूप-कल्पना नहीं है। जीवन की व्याख्या करनेवाले किसी निबन्ध को हम काव्य नहीं कहेंगे। काव्य के आवश्यक रूप-गुणों से उपेत जो रचना होगी उसे अपने सामने उपर्युक्त उद्देश्य रखना होगा। और इस उद्देश्य के गर्भ में काव्य की आत्मा निहित है।

रस की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। काव्य की जिस असाधारण सामर्थ्य द्वारा हमको लोकोत्तर आनन्द मिले और हम काव्य के रसास्वादन में अन्य समस्त बातों को इतना भूल जायँ कि अपने को भी भूल जायँ, वही रस है। यह रस किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? ऐसी सर्वग्राहिणी मनोरञ्जकता काव्य में किस प्रकार आ सकती है? रहीम ने कहा था कि अपने 'गोत' की वृद्धि को देखकर बड़ा सुख होता है, जिस प्रकार सुन्दर, बड़ी आँखों को देखकर आँखें सुखी होती हैं। मनुष्य के भीतर समवेदना और सहानुभूति की शक्ति है। यदि हम सुखी या दुखी रहे हैं तो दूसरे को सुखी या दुखी देख कर, हम उसके दुख सुख का अनुमान, कभी-कभी अनुभव भी, कर सकते हैं। हमारा हृदय भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न भावों का आगार है।

मनोविज्ञान और हृदय-विज्ञान के पण्डितों ने इन भावों का अब से बहुत पहले वर्गीकरण कर लिया है। स्थायी भाव नौ हैं। यह मानव-हृदय में बीजरूप से, या अङ्कुरितरूप से, सर्वदा वर्तमान रहते हैं, अर्थात् मनुष्य का हृदय इनकी अनुभूति के लिए सदा तत्पर रहता है। नौ स्थायी भावों के अतिरिक्त तेतीस सञ्चारी भाव हैं। ये चलते-फिरते रहते हैं, इसीलिए सञ्चारी कहलाते हैं। किसी स्थायी भाव की अनुकूल अवस्था मे ये प्रकट होते हैं और अपना काम करके चले जाते हैं। आशा-निराशा से आन्दोलित प्रेमी कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उन्मत होकर नाचने लगता है। सञ्चारी भाव स्थायी भावों पर निर्भर हैं। स्थायी भाव और सञ्चारी भाव मिलकर मनुष्य को जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के अधीन बनाते हैं। सञ्चारी भाव स्थायी भाव के अभिनिवेश के लिए प्रायः परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। एक निराश प्रेमी अथवा पुत्र-शोक से दलित पिता जाकर दीवार में सिर दे मारता है या आगामी रात को ही दो बोतल शराब पीकर जुआ खेलने चला जाता है और अपना सर्वस्व खो बैठता है। यहीं से उसके जीवन की धारा किसी और दशा में बह चलती है।

काव्य की आत्मा हमारे स्थायी भावों पर निर्भर हैं। किसी स्थायी भाव को लेकर काव्य अपने पात्रों द्वारा उसकी यथार्थ स्थिति प्रदर्शित करता है और हम अपने अन्तःस्थित उस भाव के कारण, अपनी समवेदना-शक्ति द्वारा काव्य-चित्र की भावना में बँध जाते हैं। हमारा इस प्रकार बँध जाना ही काव्य का रस है। हमारा भावाङ्कुर रस के परिपाक के साथ-साथ विकसित होता है और हम अपने उसी भाव को काव्य के पात्रों में उसके सर्वांगीण रूप में देखते हैं। यही काव्य का उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। जीवन के जिस पहलू को काव्य ने अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए अंगीकार किया था उसकी व्याख्या उसने करदी। व्याख्या जीवन की ही होनी चाहिए; क्योंकि तभी वह हमारी उत्सुकता और सहानुभूति को आकर्षित करेगा और हमारी सहानुभूति को जाग्रत करके ही वह हमारे लिए रसमय हो सकेगा। जो काव्य जितनी ही बढ़िया और सच्ची व्याख्या करेगा वह उतना ही रसमय होगा। जिसमें रस की त्रुटि होगी उसकी, समझना चाहिए, जीवन-व्याख्या अपूर्ण या असफल रह गई।

इस प्रकार एक-एक स्थायी भाव एक-एक रस की उत्पत्ति का उत्पादन-कारण होता है। काव्य रस का निमित्त-कारण है। एक काव्य-कृति में एक ही स्थायी भाव, एक ही प्रधान रस, होना चाहिए। अन्य रसों का, भावों या भावाभासों का, समावेश प्रधान रस के सहायक रूप में होना चाहिए। अनेक रसों को

प्रधान बनाने से काव्य-ग्रन्थ में संकीर्णता और भाव-संकुलता आ जाने का भय है। हमारे मन की ग्राहका-शक्ति एक समय में एक ही वस्तु को ग्रहण कर सकती है। एक मनुष्य को उसके यहाँ पुत्र-जन्म का समाचार देते-देते यदि आप बीच में उससे सहसा चीन की वर्तमान स्थिति का सिलसिला छेड़ बैठें या फरासीसियों के उच्च कथा-साहित्य की प्रशंसा करने लगें तो शायद वह उसे अधिक नहीं समझेगा, और अधिक पसन्द भी नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त कुछ रस परस्पर विरोधी भी हैं। यदि कदाचित् कवि अपने प्रौढ़ोक्ति-समाश्रमाधिकार से दो रसों को एक साथ ग्रहण करना चाहता है तो दोनों को एक रूप करने के लिए उनके बीच में एक उभयानुरोधी रस या भाव का लाना उसके लिए आवश्यक है। अन्यथा भिन्न अवस्थाओं के असमंजस मेल से पाठक या दर्शक की रुचि को झटके से लगते हैं जिससे उनकी सहानुभूति और आकांक्षा शिथिल, तथा कभी-कभी जर्जरित हो जाती है। यथार्थ में, एक से अधिक प्रधान रस किसी ग्रन्थ में हो ही नहीं सकते। जिस प्रकार चटनी में मीठे, नमकीन स्वादों का मेल इसलिए होता है कि वे सहायक-पद ग्रहण करके खट्टे को ही एक विशेष प्रकार से उत्तेजित करें, अथवा जिस प्रकार पान में भिन्न-भिन्न पदार्थ मिलकर पान के ही उत्कर्ष को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी प्रधानेतर रस और भावों को प्रधान रस के उत्कर्ष के लिए ही लाना उचित है। इनकी अधिकार सीमा में अतिरंजना नहीं करनी चाहिए। मीठा नमक या कत्था-चूना अधिक पड़ जाने से चटनी या पान का स्वाद बिगड़ जाता है।

इसी प्रकार काव्य-कथा का नायक भी एक ही होना चाहिए। उसके साथ नायिका हो सकती है। प्रतिनायक भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, परिस्थितियों की उत्पत्ति और उसके विकास के लिए अन्य गौण पत्रों का भी स्थान होता है। परन्तु नायकातिरिक्त पात्रों का तथा समस्त परिस्थितियों का उद्देश्य—वह साधर्म्य भाव से हो या वैधर्म्य से—नायक के चरित्र एवं उद्देश्य को विकसित करना ही होना चाहिए। ऐसा न होने से भी वही दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है जो अनेक प्रधान रसों के होने से हो सकता है. काव्य-कृति मानो एक वाक्य है जिसमें नायक उसकी क्रिया है। एक वाक्य में दो क्रियाएं होने से दो वाक्यों की कल्पना होती है।

काव्य के इस साधारण दिग्दर्शन से हमें मालूम होता है कि काव्य-रचना सरल काम नहीं है। काव्य-रचना के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले व्यक्ति को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। पद-पद पर कोई-न-कोई दोष आ जाने की

है। क्या काव्य में से Intellectual तत्त्व को एकदम निकाल देना चाहिए या यदि रक्खा जाय तो किस तरह, इस पर अलग विवाद किया जा सकता है। कहनेवालों का तो यह तर्क होगा कि Intellectual बातों को बोध गम्य बनाने का काव्य-साहित्य बड़ा अच्छा माध्यम है, उसका उपयोग क्यों न किया जाय। मिश्र शायद यह कहे। जैनेन्द्र भावुकता के स्थानों को भी पांडित्य-प्रदर्शन के लिए शायद, बुद्धि तत्त्व की आवाज देकर विकृत कर देते हैं। एक समस्या को लेकर चलते हैं, और समस्या कवि-कर्म के लिए बड़ी घातक होती है। घातक तभी होती है जब कवि उस समस्या का निपुण (Expert) बनने का दावा रखता है; और या तो उसका दार्शनिक समाधान देना चाहता है बड़ी बनाकर दुनिया को उसके (Magnitude) से चकाचौंध करना चाहता है। वरना समस्या कहाँ नहीं है? क्या जीवन ही स्वयं एक समस्या नहीं? और अच्छा कवि दार्शनिक इसी बात का परम व्यापक रूप में देखता है। तब समस्या Puzzle रहती है। कवि दार्शनिक भी उसे सुलझा नहीं सकता। इसके बाद काव्य का कार्य अपने गौरव से अग्रसर होती है। समस्या, कौतूहल और Suggestion को लेकर पाठक के हृदय को क्रियमाण करता हुआ काव्य इस भाँति आगे बढ़ता है कि जितना पाठक उलझा हुआ रहता है, उतना ही कवि भी। और जितना कवि उलझा रहता है, उतना ही पाठक। जहाँ प्रतिभा की कमी होती है वहाँ उद्‌गार बनाने पड़ते हैं और उनके प्रकटीकरण के लिए भाषा ढूँढ़नी पड़ती है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सात्त्विक क्रोध की अवस्था में तो हम अपने भाव के अनुरूप भाषा कह जाते हैं, परन्तु किसी पर झूठा प्रभाव डालने के लिए बनावटी क्रोध दिखाने में हमारी भाषा में वह ओज और स्वाभाविकता नहीं रहती। एक सूक्ष्म निरीक्षक उस समय समझ लेता है कि हम बनावटी क्रोध दिखा रहे हैं।

दुरूह कठिनाइयों के कारण काव्य को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। सौन्दर्य (चमत्कारिता) और उपयोगिता की समष्टि से कला की उत्पत्ति होती है। कला में सौन्दर्य विधेय और विधायक, दोनों है। अपनी सादी, कच्ची झोपड़ी में रहते-रहते हमारी तृप्ति जब ऊब जाती है तब हम शिल्पकला की शरण लेते हैं और सौन्दर्यकांक्षा और आश्रयस्थान की आवश्यकता को सन्तुष्ट करते हैं। इस समय सौन्दर्य को स्थिति प्रधान हो जाती है, और उपयोगिता की गौण। तथापि उपयोगिता है आवश्यक। और नहीं तो सौन्दर्योपभोग से जो तृप्ति हमें मिलती वह हमारे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हो सकती है। लोग कहते हैं, रोटी लग जाती है तो आदमी मुटा जाता है। यह

भान यहाँ भी है—हाँ, कलानुशीलन में जो रोटी हमें लगती है वह हरामखोरी की रोटियों से तुलनीय नहीं है।

जो लोग आदर्श को कला का मार्ग समझते हैं उनसे हमारा मतभेद है। 'आदर्श' शब्द की रहस्यता को निकाल देने के बाद हम कह सकते हैं कि यह उसका उपयोग है। कला का मार्ग सौन्दर्य ही है। हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुसंख्यक कलाओं के बीच में कुछ इनी-गिनी कलाएं ऐसी भी हैं जिन्हें ललित कला कहते हैं, और जब हम काव्य-कला का ज़िक्र करते हैं तो हमें 'ललित' शब्द को ध्यान में रखना पड़ेगा। यदि 'आदर्श' शब्द की रहस्य-परिभाषा को हम स्वीकार करेंगे तो हमें कहना होगा कि कला की—विशेषतः ललित कला की—आवश्यकता ही नहीं है। नीति, धर्मशास्त्र और भारतीय पुराण तथा उपनिषदों के लिए ही यह मार्ग निर्दिष्ट है। 'आदर्श' की अरहस्य-परिभाषा में, हम कहेंगे कि सात्विक सौन्दर्य की कल्पना और उत्पत्ति ही क्या एक आदर्श नहीं है। 'A thing of beauty is a joy for ever. तब हम प्रकृति को ईश्वर की कला कहते हैं ('Nature is the art of God'), तब हम प्रकृति के अद्भुत सौन्दर्य और चमत्कार से ठगे जाकर ही ऐसा करते हैं। उसको देख कर ईश्वर, या अचर, अदृष्ट जगत् की भावना हमारे भीतर पैदा होती है या नहीं, यह बात ही दूसरी है। सृष्टि में हमारी कला की कल्पना उसके सौन्दर्य और चमत्कार के कारण होती है।

हमारे एकाध विद्वान् भारतीय और पाश्चात्य कला के रूप और सिद्धान्त में जब विरोध देखते हैं तब हमें आश्चर्य होता है। पाश्चात्य कला के अनुसार हमारा अन्तर्जगत मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र भर है और वह बाह्य जगत् अन्तर्जगत की प्रतिच्छाया है। भारतीय कला के अनुसार बाह्य जगत् अन्तर्जगत् की प्रतिच्छाया है और वह अन्तर्जगत् के स्फुरणों पर निर्भर है। दोनों कलाएं एक दूसरी से उलटी हैं। पाश्चात्य व्यवहार प्रगति लोकायतिक हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आचार नीति के आदर्श-मूल समस्त संसार में एक से ही हैं। पृथ्वी का कोई कोना नहीं, जहाँ सत्य उचित और असत्य अनुचित न समझा जाता हो। आचार नियमों के आदर्श में वैषम्य होने से ईश्वर की सृष्टि उथल-पुथल हो जाय और संसार का सारा काम रुक जाय। कलानुशीलन को भी हम लोक-व्यवहार न समझ आचार-सिद्धान्तों का ही एक पक्षान्तर मानते हैं। जितनी बातें मनुष्य के हृदय और उसकी आत्मा को उन्नत करने वाली हैं, उसे नीचे से ऊपर उठानेवाली हैं, वे आचार के ही अन्तर्गत हैं। यदि कला का यही एक रूप है और बिल्कुल उससे उल्टा

वहाँ, तो यही कहना होगा कि जो यहाँ काला है, वह वहाँ सफ़ेद है। परन्तु हम तो पाश्चात्य कला-कल्पना में कोई दूषण नहीं पाते।

हमारा अन्तर्जगत् हमारे मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र है। हमारी मनः प्रवृत्ति-बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया—अधिक स्पष्ट शब्दों में, बाह्य परिस्थितिकी क्रिया-प्रतिक्रिया का फल—है। जन्मान्ध व्यक्ति की मनःप्रवृत्ति उस प्रकारकी नहीं होती जैसी सनेत्र व्यक्ति की होती है। सनेत्र व्यक्तियों में भी जिस व्यक्ति को जीवन और संसार का अनुभव अधिक होता है वह उस व्यक्ति से भिन्न प्रकार से सोचता है जो अपने ही घर, मुहल्ला या ग्राम में बन्द बैठा रहता है। प्रकृति और पुरुष के मेल से ही विश्व अपने वर्तमान रूप में कार्य करता है। पुरुष अनुभव करता है और प्रकृति अनुभव कराती है। प्रकृति और पुरुष के उस मेल से जिसे 'मनुष्य' कहते हैं—इस समय हमें मनुष्य से ही काम है—यह अनुभव कराने के लिए दस बाह्य इन्द्रियां हैं। ये अपनी-अपनी अनुभूति को लेकर उसे मन तक पहुँचाती हैं और मन द्वारा हमारी आत्मा (पुरुष) को उसकी संवित्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो हमारी इन्द्रियों का होना बेकार है। अद्वैत-वादी भी परमात्म-भिन्न एक दूसरी सत्ता, माया, को—चाहे वह असत् सत्ता ही क्यों न हो—मानते हैं। इस माया को जानकर उससे निर्लिप्त होकर ही परब्रह्मरूप मनुष्य, तद्रूप, 'त्वम्' अपने को पहिचान सकता है। माया के मायात्व का हमको अनुभव कराने के लिए माया का होना आवश्यक है। यदि माया न होती तो ब्रह्म को कुछ जानने-पहचानने की आवश्यकता ही न थी। बाह्य-जगत्स्वरूप माया हमको जनाती है, अनुभव कराती है, और इसी लिए वह आवश्यक है। ऐसी दशा में हमको यह मानने में आपत्ति होना स्वाभाविक है कि बाह्य जगत् अन्तर्जगत् के स्फुरणों की प्रतिच्छाया, प्रकल्पना, है। यह स्फुरण किस प्रकार पैदा होते हैं, किससे पैदा होते हैं? हमारी समझ में इस प्रकार का कला-वाद किञ्चित् अतिदार्शनिक हो जाता है। शुष्क दर्शन और कला का ऐसा मेल करने से कला में सुन्दरता की कल्पना को एक दम नष्ट कर देना होगा। तब कला और दर्शन में भेद भी न रहेगा। तथापि एक बात और है। भारतीय दर्शन अवतार-सिद्धि के आधार पर आत्मा के उस परिणाम को ही जब कि वह आवा-गमन से मुक्त होकर परमात्मा से मिल जाय अपना उद्देश्य मानता है। यदि हम बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् के स्फुरणों का स्वरूप मानकर चलें तो भारतीय दर्शन की यह स्थिति बैठ जाती है। अन्तर्जगत् के स्वतःसिद्ध स्फुरणों को नियमित और प्रभावित करनेवाली कोई वस्तु न रहने पर आत्मा किस प्रकार अपना विकास

करेगी ? क्या जब अन्तःस्फुरण बन्द हो जायँगे ? दूसरे शब्दों में, क्या जब बाह्य जगत् अन्तर्हित हो जायगा—जब महाप्रलय होगा ? इस अवस्था में हमको यह भी मानना पड़ेगा कि जिसे हम अन्तर्जगत् कहते हैं उसमें स्फुरण पैदा करने और उन्हें यथेच्छ रोक देनेकी भी शक्ति है। हमारी समझ में, हम कला को शुद्ध दर्शन (या विज्ञान) की दृष्टि से नहीं देख सकते। भारतीय कला का उद्देश्य, सम्भव है, कुछ अंश तक वही हो जो दर्शन का है, परन्तु उसका मार्ग बिलकुल दूसरा है। कला के पाश्चात्य या प्राच्य आदर्शों में भी विरोध नहीं है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य अभी द्वार तक पहुँचा है और हमने—शायद—ड्योढ़ी पर पैर रख लिया है। यदि कला-कल्पना के भीतरी रूप में विरोध होता तो क्या गेटे के मुँह से 'शकुन्तला' के सम्बन्ध में हम वे अमर शब्द सुन सकते थे ?* क्या हम आशा कर सकते थे कि समस्त चार्वाक-वादी पाश्चात्य संसार 'गीताञ्जलि' के सामने सिर झुकाता और अपनी भक्ति-भावना को अपने बड़े-से-बड़े उपहार-द्वारा व्यक्त करता ? आज भी जहाँ कहीं ठाकुर महाशय जाते हैं सारा संसार उनके चारों तरफ़ साग्रह श्रद्धा से टूट पड़ता है, ब्रह्मनिष्ठ पादरी लोगों को भ्रम होता है कि वह ईसा के अवतार हैं, अस्तु।

प्राच्य और पाश्चात्य काव्यकला-कल्पना में जब कोई विरोध नहीं है तब हममें से वे लोग जो साधनाभाव के कारण कला की भावना को पाश्चात्य भाषाओं-द्वारा ग्रहण करते हैं कोई अपराध नहीं करते। केवल भाषा-भेद होने से कोई विशेष दोष उत्पन्न नहीं होता। अन्यथा हमें उन लोगों को भी दोषी कहना पड़ेगा जो संस्कृत न जानने के कारण हिन्दी-द्वारा ही काव्यमर्म को समझने की चेष्टा करते हैं। कला के सर्वगत सिद्धान्तों के समान होने पर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमने कला का अध्ययन और आलोचन पाश्चात्य दृष्टिकोण से किया है या प्राच्य दृष्टिकोण से। उसमें भी गद्य काव्य-कला—और विशेषरूप से उपन्यास, कहानी—के सम्बन्ध में तो यह तर्क और भी निर्बल पड़ जाता है। उपन्यास और आधुनिक गल्प बिलकुल नई चीज़ है—एकदम विलायती। भारत की किसी भी भाषा में अँगरेज़ों के प्रचार से

---

* "Wouldst thou Heaven and Earth in one sole name combine?
I name thee O Sakuntala, and all at once is said."

हम पूछते हैं, यह पाश्चात्य कसौटी है या भारतीय—या, यह दोनों कसौटियों का समाहार ?

पहले आजकल की जैसी उपन्यास-कहानी नहीं लिखी जाती थी। इसका सर्वांग विलायती है—स्वरूप विलायती, आत्मा भी विलायती। प्रेमचन्द जी जब 'सेवासदन' लिखकर विख्यात हुए, तब-तब उनके मनोवैज्ञानिक ज्ञान और विवेचन की ही धूम थी। उस समय लोग भारतीय और पाश्चात्य कलाओं के विभाजन, या भारतीय कला की दार्शनिक रहस्यता का पता लगाने का उद्योग नहीं करते थे। पाश्चात्य कसौटी ही काफ़ी थी, और यह स्वाभाविक था। पाश्चात्य ढंग के साहित्य की परीक्षा में हमको पाश्चात्य सिद्धान्तों से ही काम लेना पड़ेगा—चाहे वे सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तों के विरुद्ध भी हों। अप-टु-डेट अँगरेज़ी पोशाक पहनकर जो मनुष्य अँगरेज़ी आचारक्रम (Etiquette) का पालन नहीं करता, वह उपहास्य होता है। 'कायाकल्प' का अध्ययन करते समय हमारा दृष्टिकोण भी पाश्चात्य ही रहेगा, यद्यपि, हम फिर कहते हैं, प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में कोई अन्तर नहीं है।

(२)

'कायाकल्प' प्रेमचन्द जी का पाँचवा उपन्यास है। 'रंगभूमि,' और विशेषरूप से 'प्रेमाश्रम', के लेखक की लेखनी का पूरा समर्थन हमको इसमें मिलता है। 'सेवासदन' का नाम हम इसलिए नहीं लिखते कि हम उसे प्रेमचन्दजी की साहित्यिक कार्यशीलता के कालान्तर की वस्तु समझते हैं। उसे छोड़कर, प्रेमचन्दजी के शेष उपन्यासों में विशेषता है कि उन सब में श्रीप्रेमचन्द की रुचि और रीति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। उनकी किसी एक पुस्तक को पढ़ने के बाद, प्रथम पृष्ठ पर लेखक का नाम न पढ़कर भी, हम कल्पना कर सकते हैं कि वह मुंशी प्रेमचन्द की कृति है।

यदि किसी लेखक की रुचि और प्रवृत्ति का कुछ अनुमान उसके ग्रन्थ-विशेषों की संख्या से भी किया जा सकता है तो हम कह सकते हैं कि श्री प्रेमचन्द की रचनाओं में सामाजिक और अद्भुत, दोनों प्रकार की, कल्पनाओं का समावेश रहता है। अद्भुत की कल्पना शायद सामाजिक कल्पना के विकास में तो अधिक सहायक नहीं होती; परन्तु उससे एक बड़ा लाभ है। वह मध्यम पाठकों की घटनावैचित्र्यापेक्षी उत्सुकता को अतिशय उत्तेजना देकर पुस्तक को विशेष मनोरञ्जक बनाने का प्रयास करती है। यह प्रायः अच्छा है। शुष्क सामाजिक समस्याओं को हल करते समय यदि बीच बीच में थोड़ी-बहुत अद्भुत बातें कह दी जायँ तो पाठकों की आकांक्षा बनी रहती है, उनका मस्तिष्क भी

तर हो जाता है। तथापि, यदि मुख्य बात के कहने के ढंग में ही हम आकर्षण और रस ला सकें तो अधिक अच्छा है।

'कायाकल्प' में हम सामाजिक और अद्भुत कल्पनाएँ सबसे अधिक प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। सामाजिक कथा कहीं हंसाती है, कहीं रुलाती है और कहीं ग्लानि उत्पन्न करती है। 'कायाकल्प' की चरम अद्भुतता को निकाल देने पर, सामाजिक भाग में भी सामान्य जीवन की सामान्य घटनाओं के साथ-साथ विलक्षण मनःसृष्टि की इतनी यथेष्ट प्रचुरता है कि वह कथा के उत्ताप को कहीं कम नहीं होने देती। आगरे में गो-वध का प्रसङ्ग, राजा साहब के तिलकोत्सव पर भीषण दंगे-फ़िसाद का होना, जेल में दारोग़ा के साथ झगड़ा होना और चक्रधर का ज़ख्मी हो जाना, फिर एक अन्य अवसर पर हिन्दू-मुसलमानों की कलह में अहल्या का खोया जाना और उसके द्वारा ख़्वाजा महमूद के लड़के की हत्या होना आदि, इसके उदाहरण हैं। ऐसी घटनाओं के दो अभिप्राय हो सकते हैं—उद्दीपित आकांक्षा को जागृत रखना और कथा के नायक-नायिका के सम्बन्ध और चरित्र को विकसित और जटिल करना। 'कायाकल्प' में दोनों उद्देश्य अपने अपने आनुगुण्य में दक्ष हैं।

'कायाकल्प' के सामाजिक भाग के नायक-नायिका चक्रधर-मनोरमा हैं। चक्रधर-मनोरमा की कथा ही 'कायाकल्प' में प्रधान भी है, क्योंकि इन्हीं दोनों की अवस्था-परिणति से पुस्तक का उपसंहार भी होता है। चक्रधर और मनोरमा का प्रेम ग्रन्थ के सामाजिक अंश का आधार है। ये दोनों व्यक्ति एक-दूसरे पर अनुरक्त थे—मनोरमा तो बहुत अधिक। परन्तु कुटिल परिस्थितियों के षड्यन्त्र ने उन्हें इतना भी अवकाश न दिया कि वे कभी एक-दूसरे से अपने हृदयगत प्रेम का शब्द भी कह सकते। इन परिस्थितियों में चक्रधर की नीति-भीरुता तथा सङ्कोच-शीलता और मिल गई। वे मनोरमा से सदा भागते ही रहे। मनोरमा उनकी अपेक्षा अधिक निर्भीक थी। वह आरम्भ से ही उनके साथ अपनी निःसङ्कोचता स्थापित करने में नहीं झिझकती और हर प्रकार से अपने अनुराग को उन पर प्रकट करती है। वह एक बार अपने मन में कहती भी है—'मैंने अपने मन के भाव उससे कहीं अधिक प्रकट कर दिये जितना मेरे लिए उचित था,' वास्तव में उसके लिए यह कहना ही बाक़ी रह गया था—'चक्रधर; मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। मुझ पर दया करो।' खाँसी और प्रेम को बिलकुल छिपा लेना सचमुच असम्भव है।

मनोरमा प्रेम की मूर्ति है। प्रेम के लिए उसने अपने को बलिदान कर दिया।

प्रेम की वेदी पर नतमस्तक होकर उसने अदृष्ट के उस आदेश को अङ्गीकार किया जो स्वप्न की कठोर विडम्बना के रूप में उसे दिया गया था। उसने बूढ़े राजा से विवाह किया, केवल इसलिए कि वह चक्रधर को उनके सदुद्देश्यों में सहायता पहुँचा सके। भारतीय आदर्श मनोरमा के इस आचरण को चाहे बुरा समझे; परन्तु काव्य में हम आदर्शों की विवेचना आदर्शों की कठोरता के साथ नहीं करते, हम मानव होकर उनकी मानवीय उच्चता को ही अपने सामने रखते हैं। सात्त्विक प्रेम एकान्त भौतिक संसर्ग का आश्रित नहीं रहता। 'मेरे प्यारे को सुख हो, मैं अपने प्यारे की यथाशक्ति सेवा कर सकूँ'—यही सात्त्विक प्रेम का यथार्थ रूप है। मनोरमा बुड्ढी हो जाती है परन्तु चक्रधर के लिए उसकी भक्ति और प्रेम-भावना लेशमात्र भी कम नहीं होती।

चक्रधर प्रेम करने में उससे बहुत पीछे हैं। वह शायद एक बार भी उसके लिए नहीं रोये हैं। वैसे अनुराग तो मनोरमा से उनको पहले ही से थोड़ा-बहुत हो गया है, परन्तु, वास्तव में, मनोरमा के त्याग की कल्पना करने के बाद ही वह उसकी तरफ़ विशेषरूप से खिंचते हैं। परन्तु अब समय बीत गया है। दोनों अलग-अलग विवाहित हैं। चक्रधर का अहल्या के साथ विवाह होना जीवन के उन असंख्य दैव-दुर्नियोगों में से एक है जो पूर्व के यात्री को पश्चिम में ढकेल देने की क्षमता रखते हैं। परन्तु चक्रधर मूर्ख थे, या शायद वे अपने सम्बन्ध में बहुत अधिक भावुक थे। वे मनोरमा की तरफ़ से, एक के बाद एक, अनेक भाव-व्यञ्जनाएं पाकर भी बहुत समय तक उसके भावों की पूरी गहराई तक न पहुँच सके। उनके पिता केवल बाहरी आभासों को देखकर भी समझ लेते हैं कि यदि चक्रधर ज़रा भी चाहते तो वे मनोरमा से विवाह कर सकते थे। मुंशी वज्रधर दुनिया-देखे आदमी हैं। चक्रधर के पिता की हैसियत से उपन्यास में इनको विशेष और बड़ा लम्बा-चौड़ा स्थान दिया गया है। इनकी प्रधानता यद्यपि कथा के विकास और उसके मुख्य रस को कोई सहायता नहीं पहुँचाती और इस दृष्टि से कुछ-कुछ निरर्थक है, तथापि वह पुस्तक में विनोद की एकमात्र सामग्री है। कथा-प्रसार के लिए चक्रधर और मनोरमा के बाद राजा विशालसिंह एक प्रधान व्यक्ति हैं। बहुत अंश में यह उपन्यास के प्रतिनायक कहे जा सकते हैं। पुस्तक के अन्य उपप्रधान पात्रों में ख्वाजा महमूद और हरिसेवकसिंह हैं। बाक़ी सब पात्र गौण हैं।

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों में उनका चरित्र-चित्रण ही विशेष आकर्षण की वस्तु है। 'कायाकल्प' में भी एकाध चित्रण वास्तव में बढ़िया हुआ है। मुंशी

चक्रधर के चरित्र का विकास दिखाने में प्रेमचन्दजी सबसे अधिक सफल हुए हैं। मुंशीजी का पहला परिचय हमें तब मिलता है जब उनकी चक्रधर से नौकरी के सम्बन्ध में बातचीत होती है। आगे चलकर हमको धीरे-धीरे मालूम होता है कि दुनियादारी तथा ऐहिक सुखों का प्रेमी यह निर्द्वन्द्व व्यक्ति, संसार की चालबाज़ियों से जानकार, और उसके कौशल में अभ्यस्त, हृदय की कालिमाओं से शुद्ध है। उसका एक-मात्र दोष यह है कि वह शासन-वृत्ति का दास है और उसके फेर में वह प्रजा पर अत्याचार करने में निर्विकल्प हो जाता है। वह रेल के उन यात्रियों में है जो 'पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फ़िक्र करने लगते हैं और अन्त में सोने की तैयारी करते हैं।' उपयुक्त अवसर को हाथ से न जाने देनेवाले इस मनुष्य ने जिस चतुराई और तत्परता से रानी जगदीशपुर के यहां तहसीलदारी प्राप्त कर अपनी पेश-बन्दी से राजा विशालसिंह के यहाँ रस्म बढ़ाया, और एक साथ दोनों को खुश रखते हुए अपनी कार्य-दक्षता और स्वामिभक्ति का रोब जमा दिया उसके लिए श्री प्रेमचन्द की तारीफ़ की जाती है। देवप्रिया के रसोइए के बारे में विशालसिंह के पूछने पर जो स्थिति वज्रधर के लिए उपस्थित होनी है उसके निर्वाह में कुछ लेखक चूक जाते। परन्तु वज्रधर प्रेमचन्दजी की लेखनी के उपयुक्त मीठी और विनीत फटकार में उनसे कहते हैं—'महाराज, क्षमा कीजिएगा, मैं आपका सेवक हूँ; पर रानीजी का भी सेवक हूँ। उनका शत्रु नहीं हूँ। आप और वह दोनों सिंह और सिंहिनी की भाँति लड़ सकते हैं·········मैं तो दोनों ही द्वारों का भिक्षुक हूँ।' इसी प्रकार रानी के तीर्थाटन को चले जाने पर जहाँ वह विशालसिंह के सामने इस खुशख़बरी के प्रथम आघाता होने तथा तुरन्त नई परिस्थिति की हिफ़ाज़त का इन्तज़ाम कर देने के श्रेय को हरिसेवकसिंह को न देकर अपने को देते हैं वहीं वह ज़रा देर बाद उनके समर्थन में भी अनेक बातें कहते हैं और ऐसा कोई शब्द मुँह से नहीं निकालते जिससे हरिसेवक के विषय में राजा साहब की चित्तवृत्ति ख़राब हो। इसे हम उनकी सज्जनता कहें या दूरदर्शिता, परन्तु इस तरह का व्यवहार उनके जैसे चरित्र में बहुत ही उपयुक्त है। हमको इसका भी प्रमाण नहीं मिलता कि वे कुलीनता के भावों से बिलकुल शून्य थे। क्योंकि, राजा साहब के गद्दी-नशीन होने पर जब उनकी भी स्थिति बदली तो शहर के किसी रईस के यहाँ चक्रधर का विवाह हो जाना कठिन न था। परन्तु, फिर भी, यशोदानन्दन को वचन दे देने के कारण वे एक बार उनको लिखकर उनकी इच्छा को जान लेना चाहते हैं, यद्यपि वहाँ शादी करने के लिए उनका अब विशेष उत्साह नहीं

है। जगदीशपुर की नौकरी में आने के बाद उनकी बातचीत के ढङ्ग में अधिकार की मात्रा भी अधिक बढ़ गई है। वे अँगरेज़ और हिन्दुस्तानी का भी फर्क समझते हैं। चक्रधर के छुटकारे के लिए मैजिस्ट्रेट के सामने वे अपने मन के जिस अधोभाव का प्रदर्शन करते हैं वह हमने उनमें रानी जगदीशपुर या राजा साहब के सामने, यद्यपि ये उनके प्रत्यक्ष स्वामी थे, कभी नहीं देखा। बल्कि राजा साहब के साथ तो उनका व्यवहार कभी कभी मित्र, सलाहकार या बुज़ुर्ग का-सा भी हो जाता है, जिसके चित्रण में प्रेमचन्दजी कहीं-कहीं अतिरञ्जना भी कर गये हैं। उदाहरणार्थ, एक जगह वे कहते हैं—'गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा। आपका बस चलता तो क्या रानीजी की जान बच जाती या दीवान साहब ज़िन्दा रहते? उन पिछली बातों को भूल जाइए। भगवान् ने आज आपको ऊँचा रुतबा दिया है। अब आपको उदार होना चाहिए। मातहतों से उनके अफ़सर के विषय में कुछ पूछताछ करना अफ़सर को ज़लील कर देना है। मैंने इतने दिनों तहसील-दारी की लेकिन नायब तहसीलदार के विषय में चपरासियों से कभी कुछ नहीं पूछा।' (पृष्ठ १३६-४०)। वज्रधर के जैसे चरित्र में इस तरह का व्यवहार स्वाभाविकता की दृष्टि से ज़रा खटकता है। उनकी इस धृष्ट स्पष्टवादिता में और ऊपर की फटकार में आकाश-पाताल का अन्तर है। फिर, उस समय की स्थिति से इस समय की स्थिति में भी भिन्नता है। इस समय विशालसिंह जगदीशपुर के स्वामी हैं और वज्रधर उनके आश्रित। वज्रधर ने राजा साहब के चरित्र को कितना ही पोच पाया हो और अपने को उनकी निरधिकारिता के दिनों में उन पर कितना ही हावी कर लिया हो, पर यहाँ यह अनुभवी स्वार्थद्रष्टा अपनी दूरदर्शिता को हाथ से खो बैठा। कौन नहीं जानता कि अधिकार पाकर बड़े लोग, कामा-चारी और विषमवृत्ति हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में वज्रधर क्या नहीं समझ सकते थे कि उनकी वाणी में गुस्ताख़ी की झलक दिखाई दे सकता है। हमें इसका प्रमाण भी मिलता है कि राजा साहब वज्रधर को एक क्षुद्र नौकर ही समझते हैं। तिलोकत्सव के मौक़े पर चमारों की बढ़ा-चढ़ी देखकर वे क्रोध में कहते हैं—'तो यह समितिवालों की कारस्तानी है! लाला चक्रधर, जिसका बाप मेरी खुशामद की रोटियाँ खाता है......' इत्यादि। आगे चलकर फिर वे कहते हैं—'बाप तो तलुए सुहलाता फिरता है और आप परोपकारी बने फिरते हैं। पाँच साल चक्की न पिसवाई तो नाम नहीं।' वज्रधर स्वयं भी मालिक-नौकर का भेद समझते हैं। तिलकोत्सव के खर्च को आसामियों से रुपये वसूल करने के लिए जब वे राजा साहब की आज्ञा माँगने जाते हैं तो 'हुज़ूर', 'सरकार' के अतिरिक्त और सम्बोधन

उनके मुँह से निकलता ही नहीं। राजा साहब के 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हुए पृष्ठ १६४ पर वे कहते हैं—हुजूर का फ़रमाना बहुत वाजिब है। अगर हुजूर सख्ती करने लगेंगे तो उन ग़रीबों के आँसू कौन पोंछेगा? उन्हें तसकीन कौन देगा! हुकमत करने के लिए तो आपके गुलाम हम हैं। सूरज जलता भी है, रोशनी भी देता है। जलानेवाले हम हैं, रोशनी देनेवाले आप हैं। दुआ का हक़ आपका है, गालियों का हक़ हमारा। चलिए, दीवान साहब, अब हुजूर को सितार से शौक़ करने दीजिये।' ये वे वज्रधर नहीं हैं जिनके दर्शन हमने पृष्ठ १३६-४० पर किये थे।

मुन्शी जी के चरित्र में दो-एक और असंगतियाँ भी हैं जो दूर की जा सकती थीं। उदाहरण के लिए, राजा साहब की राज्य प्राप्ति की खुशी में गाना होते समय राजा साहब के सामने ही उनका एकदम उठकर नाचने लगना, और ऐसा नाचना कि उन्हें अपने चारों तरफ़ की सुधि भी न रही। 'उनका उछल कर आगे जाना, फिर उचक कर पीछे आना, झुकना और मुड़ना और एक-एक अंग को फेरना वास्तव में आश्चर्यजनक था'। उनसे ऐसा कराने में उनको तथा उनके संगीत-प्रेम को हद से ज़्यादा उपहास्य बनाना ही लेखक का अभिप्राय हो सकता है। वज्रधर का संगीत-प्रेम और अपने संगीत-ज्ञान का गौरव अवश्य उपहास्यता की सीमा में था—गाना न जानते हुए भी वे अपने को गवैया समझते थे और सदैव अपना गाना सुनाने को उत्सुक रहते थे। झिनकू और फ़ज़लू के गानों के समय, जबकि और महफ़िल के लोग एक-एक करके बाहर चले जा रहे थे' और 'जो दो-चार सज्जन बैठे थे वे वास्तव में सो रहे थे, उनके अंगविक्षेप और 'वाह, वाह' पाठकों के लिए एक बड़े सजीव विनोद की वस्तु हैं। 'उस्ताद उस्तादों के लिए गाते हैं, गुणी गुणियों ही की निगाह में सम्मान पाने का इच्छुक होता है' इसमें कैसा विनोदपूर्ण व्यङ्ग्य है। पर जब मुन्शी जी के नाचने लगने पर, 'जो लोग बाहर चले गये थे वे भी यह ताण्डव (!) नृत्य देखने के लिए आ पहुँचे', तो, हम समझते हैं, कमान ज़्यादा खिंच गया और डोरी टूट गई। यदि सचमुच वज्रधर ने उस भरी मजलिस में, राजा साहब के सामने इस तरह 'ताण्डवनृत्य' किया था तो प्रेमचन्द एक बात लिखना भूल गये कि मुन्शी जी के दिमाग़ में कुछ फ़ितूर था।

वज्रधर गप्पी भी बड़े पूरे थे। डींग मारना और ज़ीट हाँकना तो कोई बात ही न थी। अपनी तहसीलदारी का शब्द बात-बात में उनकी ज़बान पर रहता था। यहाँ तक कि अपने स्त्री-पुत्र के दिमाग़ में भी वे उसकी स्मृति ताज़ी करते

रहते थे। उनकी गप्पों का एक नमूना देखिये—'यह उस्ताद फ़ज़लू हैं......एक बार आपने लाट साहब के सामने गाया था। जब गाना बन्द हुआ तो साहब ने आपके पैरों पर अपनी टोपी रख दी और घंटों छाती पीटते रहे। डाक्टरों ने जब दवा दी तो उनका नशा उतरा'। बड़ी मनोरंजक गप्प है। परन्तु यदि यह विशालसिंह के सामने न हाँकी जाकर यार-दोस्तों में हाँकी जाती तो हम उस अवसर के आनन्द का कुछ अनुभव कर सकते। इसके अतिरिक्त, हमारा यह भी विचार होता है कि प्रेमचन्द जी किसी हिन्दुस्तानी लाट की कल्पना कर रहे होंगे जैसी उन्होंने 'प्रेमाश्रम' और 'विश्वास' में की है।

इस चरित्र में हमको एक बात और भी खटकी। चक्रधर मुंशी जी के एक मात्र पुत्र हैं और मुंशी जी उन पर अत्यधिक जान देते हैं। तिलकोत्सव के दंगे के बाद जब चक्रधर फ़िसाद की जड़ समझे जाकर हिरासत में कर लिये गये, तब मुंशी जी उनकी रिहाई के लिए मजिस्ट्रेट से खुशामद करते-करते एकदम कह पड़ते हैं—'मेरी यह अर्ज़ है हुजूर कि मेरी पेंशन पर रेफ़ न आये'। उनका ऐसा कहना अप्रासंगिक है। वज्रधर के जैसे पितृस्नेह के प्रतिकूल है। चक्रधर इससे दुखित होते हैं और अपने पिता को ताना भी देते हैं। लीजिए, आपकी पेंशन बहाल हो गई, केवल मेरे विरुद्ध गवाही दे दीजियेगा'।

इन थोड़े से प्रसंगों को छोड़कर वज्रधर का बाकी चरित्र काफ़ी सफलता के साथ चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि उनके पोशाक आदि के वर्णन में भी सचाई और रस है।

वज्रधर के पुत्र चक्रधर कालिज से निकले हुए एक नये युवक हैं और अधिकांश युवक छात्रों की भाँति मनुष्य-जीवन के उच्च दार्शनिक उत्साह से भरे हुए हैं। नौकरी करना वे बुरा समझते हैं और धन से डरते हैं। सेवा-भाव उनका व्रत है और जीवन सादा। उन्होंने ३०) मासिक पर जगदीशपुर के दीवान हरिसेवकसिंह की कन्या मनोरमा को पढ़ाना स्वीकार कर लिया है। इसे शायद वे नौकरी नहीं समझते।

चक्रधर के आदर्शों में, आरम्भ में, भावुकता की ही मात्रा अधिक है। वे स्थान-स्थान पर आत्म-प्रवंचना के लक्ष्य बन जाते हैं। १३ वर्ष की बालिका मनोरमा को पढ़ाते समय वे उसकी तरज़ देखते हुए झेंपते हैं 'मानो वहाँ बैठते डरते हों'। इससे उनकी गुप्त लालसा वृत्ति की सूचना मिलती है, जो इस बात से स्पष्ट है कि उन्हीं दिनों, एक रोज़, अपनी भावी बहू अहल्या के चित्र को

देखकर वे उसके साथ मनोरमा की नख-शिख-पर्यन्त, तुलना करने लगते हैं। माता के सामने सिद्धांतरूप से विवाह के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट अनिच्छा प्रकट करके भी, ज़रा देर बाद, अहल्या की तसवीर देख लेने पर वे शरमाते-शरमाते से रज़ामंद हो जाते हैं। वे कहते हैं—'अगर तुम मेरे सामने देने-दिलाने का नाम लोगी तो मैं ज़हर खा लूँगा।' मालूम होता है, उनकी इस आत्म-प्रवंचन-शीलता को प्रेमचन्द जी भी नहीं समझ पाये हैं। उनकी समझ में, 'चक्रधर रूप-लावण्य की ओर से तो आँखें बन्द कर सकते थे, लेकिन उद्धार के भाव को दबाना उनके लिए असम्भव था।' चक्रधर वास्तव में रूप-लावण्य के फेर में पड़कर ही चित्र देखकर अपने प्रन को भूल गये थे और यशोदानन्दन के साथ आगरे आये थे। हम नहीं जानते कि चित्र देखने से पहले यदि उन्हें मालूम हो जाता कि अहल्या यशोदानन्दन की पुत्री नहीं है तो वे केवल उद्धार-भाव से उसके साथ विवाह करने को राज़ी होते या नहीं। असल में, अहल्या की असलियत जान लेने पर भी, जब अपनी विवाहाकांक्षा का समर्थन करने के लिए सिद्धांत की शरण लेते हैं तब यह उनके चरित्र की निर्बलता ही ज्ञात होती है। परन्तु यह बहुत ही स्वाभाविक है। मनुष्य अपनी रुचि के समर्थन के लिए सिद्धान्त की की दुहाई देकर प्रायः अपने को धोखा दिया करता है।

चक्रधर, यथार्थ में, आदर्श की तलाश में भटकनेवाले एक निर्बल युवक हैं। आगरे में गोकशी के मौक़े पर अद्भुत साहस दिखाने के बाद अपनी प्रशंसा सुनने से उनकी तृप्ति होती है। वहाँ का वृत्तांत सुनाने में वे स्वयं भी कुछ इस ढंग से बोलते हैं कि उसमें अतिशय अहम्मन्यता का भ्रम होता है। 'एक हज़ार! अजी पूरे पाँच हज़ार आदमी थे और सभी की त्योरियाँ चढ़ी हुईं! मालूम होता था मुझे खड़ा निगल जायँगे। जान पर खेल गया था और क्या कहूँ।' इतनी विकत्था इस समय ज़रा अनुपयुक्त मालूम होती है। राजा विशाल-सिंह के दामाद बनकर जब वे कुछ समय के लिए उन्हीं के यहाँ रहते हैं और वैभव की कुसंस्कार धीरे-धीरे प्राप्त कर एक रोज़ धन्नासिंह के भाई को मारते-मारते मरणशील कर देते हैं तो हमें आश्चर्य नहीं होता। वहाँ जो कुछ हुआ है वह परिस्थिति का अल्पकालिक परिणाम है। परंतु यहाँ, अपने सम्बन्ध में इतने गर्वीले शब्द कहना उनके स्वभाव के बिल्कुल विरुद्ध है। ऐसे शब्द हमने और कभी उनके मुँह से नहीं सुने।

रानी मनोरमा की बीमारी का पत्र पाकर चक्रधर अहल्या को लेकर प्रयाग से जगदीशपुर आ गये थे। परन्तु यहाँ दोनों के ऊपर ऐश्वर्य का प्रभाव बुरा

पड़ा। उससे बचने के लिए चक्रधर एक रोज़ घर से भाग निकले। दस वर्ष तक उनका पता नहीं लगा। इस समय उनका पुत्र शंखधर १३ वर्ष का था। उसे अपने पिता की बहुत याद आती थी। एक रोज़ वह उनकी तलाश में निकल पड़ा। पाँच वर्ष की तलाश के बाद उसे अपने पिता का पता लगा। पिता-पुत्र का मिलन बड़ा हृदयग्राही है। शंखधर अपने पिता को अपना व्यक्तित्व नहीं बतलाता है। चक्रधर उसके परिचय की एक-एक बात पूछते जाते हैं और उनके पेट में धक्-धक् होती है। चक्रधर पूछते हैं, 'तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?' 'उन्हें मुन्शी चक्रधरसिंह कहते हैं।' 'घर कहाँ है ?' 'जगदीशपुर।' इस पराकाष्ठा को पहुँचने पर यदि चक्रधरसिंह उसे अपने हृदय से लगा लेता तो बड़ी मानवीय बात होती। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे शायद यही सोचते हैं कि सर्वनाश हो गया। चक्रधरसिंह तो अति मानवीय नहीं थे। वे महीने-भर तक पुत्र को साथ रखकर उसे बढ़िया-बढ़िया भोजन खिलाते हैं और उसके चले आने पर उनसे अकेले नहीं रहा जाता—वे भी कुछ समय बाद जगदीशपुर को लौट आते हैं और यहाँ सबके मर जाने पर मनोरमा के लिए छिपे-छिपे चिड़ियाँ रख जाया करते हैं। उनको न माया ही मिलती, न राम ही।

चक्रधर का चरित्र मनोरमा और अहल्या के सम्पर्क से विशेषतया प्रस्फुटित होता है। मनोरमा अथवा अहल्या और चक्रधर के चरित्रों में कोई समानता नहीं है। मनोरमा में इस बात की प्रतिभा है कि वह अपने को प्रत्येक स्थिति के अनुकूल बना लेती है, यद्यपि ऐसा करने में उसे कठोर मानसिक और नैतिक परीक्षाओं में पड़ना पड़ता है। चक्रधर प्रत्येक बाधा और कठिनाई से भागते हैं। वास्तव में चक्रधर और परिस्थिति दो एकान्त विरोधी वस्तुएँ हैं, जिनमें कभी मेल हो ही नहीं सकता। उसके माता-पिता अहल्या को बड़े सत्कार से रखते थे—केवल अपनी संस्कार-रूढ़ि के कारण उसके हाथ का भोजन नहीं कर सकते थे। इसके लिए चक्रधर अपने कर्त्तव्य की भावुकता के कारण पत्नी को लेकर प्रयाग में जाकर रहने लगते हैं। मनोरमा का बतलाया हुआ उपाय भी उन्हें ठीक नहीं मालूम होता। वास्तव में, कुछ समय के लिए अहल्या को मनोरमा के यहाँ रहने देने में कोई अधिक बुराई न थी। प्रयाग में पहुँचकर भी वह अधिक दिन शान्ति से नहीं रहने पाते। अहल्या के लेख और पुरस्कार की बात जानकर उन्हें धक्का-सा लगता है और वह अपनी सिद्धान्तवादिता को भूलकर साहित्य को धनोपार्जन का उपाय बनाने लगते हैं। इसके बाद मनोरमा की बीमारी की चिट्ठी पहुँचती है।

हमको मालूम है कि वे जगदीशपुर में कुछ काल तक रहकर वहाँ से किस तरह भागे थे। मनोरमा से उनकी सदा ही आँख-मिचौनी होती रही।

परन्तु मनोरमा ऐसी नहीं है। उसमें परम चरित्र-बल है। संभव है, इसका कारण उसका पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ प्रेम हो। सच्चे और गहरे प्रेम में बहुत धैर्य आ जाता है। वह चक्रधर से छिपना नहीं चाहती। प्रत्युत वह सदा उनको पास रखने की ही चेष्टा करती है, यद्यपि वह जानती है कि उनके पास रहने से कोई लाभ उसको नहीं होगा। परन्तु प्रेमी अपेक्षा किस लाभ की करता है। जिसे वह चाहता है उसे वह देखता रहे, बस। और, यदि इतना भी उसके भाग्य में नहीं है तो भी उसे सन्तोष है।

मनोरमा आदर्शवादिनी नहीं है। बल्कि, कहीं-कहीं तो उसके विचारों में घोर चार्वाकवाद की छाप दिखाई देती है। उसका लेख 'ऐश्वर्य के सुख' इसका प्रमाण है। स्थान-स्थान पर वह स्वयं कहती है—'मैं धन को बुरा नहीं समझती।' एक स्थान पर वह अपने पिता से कहती है—'संसार के धर्मग्रन्थ, उपनिषदों से लेकर कुरान तक, उन लोगों के रचे हुए हैं जो रोटियों के मुहताज थे। उन्होंने अंगूर खट्टे समझकर धन की निन्दा की तो कोई आश्चर्य नहीं........।' फिर आगे—'हाँ, मानती हूँ धन से अत्याचार भी होता है। लेकिन काँटे से फूल का आदर कम नहीं होता। संसार में धन सर्वप्रधान वस्तु है........यही कारण है कि संसार ने धन को जीवन का लक्ष्य मान लिया है। धन का निरादर करके हमने प्रभुत्व को खो दिया। यदि हमें संसार में रहना है तो हमें धन की उपासना करनी पड़ेगी। इसी से लोक और परलोक में हमारा उद्धार होगा।' तथापि वह चक्रधर के कारण उनके आदर्शों और, जैसा कि वह समझती है, आदर्शों के कारण चक्रधर को भक्ति-भाव से देखने लगी है। चक्रधर की जेल-यात्रा के बाद उसकी फटकार सुनकर राजा विशाल जब कहते हैं कि कुछ प्रकार की प्रतिज्ञाएँ करने पर शायद चक्रधर छोड़ दिये जायं तो वह उत्तर देती है—'वह ईश्वर के कहने से भी न मानेंगे और अगर मानेंगे तो उसी क्षण मेरे आदर्श से गिर जायंगे।

मनोरमा के इस परिचय से एक बात का और भी परिचय मिलता है। वह यह है कि उसके विचार बहुत ही परिपक्व हैं। उसकी तर्क-शक्ति भी अद्भुत और असाधारण है, जिस पर आश्चर्य होता है। चक्रधर तो उसके सामने बिलकुल कुछ नहीं जँचते हैं। तेरह वर्ष की इस बालिका के साथ तर्क करने में चक्रधर एम० ए० को अन्त में सदा हार माननी पड़ती है। आरम्भ में कुछ महीने बाद एक रोज़ पढ़ाते-पढ़ाते उन्हें मनोरमा की एक शंका का सामना करना पड़ गया।

'रामचन्द्र ने सीताजी को घर से निकाला तो चली क्यों गईं ?' चक्रधर की समझ में, वह क्या करतीं। 'वह जाने से इनकार कर सकती थीं, एक राज्य पर उनका अधिकार भी रामचन्द्र ही के समान था, दूसरे वह निर्दोष थीं;·······।' पति-आज्ञा-पालन की युक्ति मनोरमा को ग्राह्य नहीं। वह तो वह जानती थी 'कि स्त्री को पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए, लेकिन क्या सभी दशाओं में ? जब राजा से साधारण प्रजा न्याय का दावा कर सकती है तो क्या उसकी स्त्री नहीं कर सकती ?' यदि चक्रधर राज-धर्म के आदर्श की बात कहते हैं तो मनोरमा पूछ सकती है— 'तो क्या दोनों प्राणी जानते थे कि हम संसार के लिए आदर्श खड़ा कर रहे हैं ?' अगर आदर्श भी मान लें तो यह ऐसा आदर्श है जो सत्य की हत्या करके ही पाला गया है। यह आदर्श नहीं, चरित्र की दुर्बलता है। जब चक्रधर अहल्या को देख-कर आगरे से लौटने पर मनोरमा से मिलते हैं तब उसका तर्क इतना ऊँचा उठता है कि उन्हें रास्ता ढूँढ़े नहीं मिलता। मनोरमा कहती है—'हाँ, लेकिन आदर्श आदर्श ही रहता है, यथार्थ नहीं हो सकता (मुसकराकर) आपही का विवाह किसी कानी, काली-कलूटी स्त्री से हो जाय तो क्या आपको दुःख न होगा ? क्या आप समझते हैं कि लड़की का विवाह किसी खूसट से हो जाता है तो वह पति का मुँह न देखे। लेकिन इन बातों को जाने दीजिए, वधू जी बहुत सुन्दर हैं ?'

चक्रधर ने बात काटने के लिए कहा—'सुन्दरता मनोभावों पर निर्भर होती है। माता अपने कुरूप बालक को भी सुन्दर समझती है।'

मनोरमा—'आप तो ऐसी बातें कर रहे हैं जैसे भागना चाहते हों। क्या माता किसी सुन्दर बालक को देखकर यह नहीं सोचती कि मेरा बालक भी ऐसा ही होता !'

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा—'मेरा आशय यह न था। मैं यह कहना चाहता था कि सुन्दर के विषय में सबकी राय एक-सी नहीं हो सकती।'

मनोरमा—'आप फिर भागने लगे। मैं जब आपसे यह प्रश्न करती हूँ तो उसका साफ़ मतलब यह है कि आप उन्हें सुन्दर समझते हैं या नहीं।'

चक्रधर लज्जा से सिर झुकाकर बोले—'ऐसी बुरी तो नहीं है।'

हमारी समझ , . क्रधर और मनोरमा की बुद्धि का यदि विनिमय करा दिया गया होता तो अधिक अच्छा होता। और, यदि मनोरमा को उनसे अधिक बतीदिखलाना था तो उसकी आयु कुछ अधिक होनी चाहिए थी। क्योंकि,

मनोरमा इस उम्र में चाहे कितनी ही अधिक पढ़ गई हो, परन्तु १३ वर्ष तक बालकों की तुलना-विवेचनात्मक बुद्धि बहुत अधिक परिस्फुटित नहीं हो जाती है। इसीलिए लोग कच्ची उम्र में अपने बालकों को धर्म ग्रन्थ आदि पढ़ाया करते हैं, जिससे वे उनके आदर्शों को निर्विकल्प भाव से ग्रहण कर सकें। मनोरमा को भी बाल्मीकीय रामायण पढ़ाई जाती थी। यह देखते हुए हमें इस पर भी आश्चर्य होता है कि उसमें इतनी अधिक मार्मिकता कहाँ से आ गई। चक्रधर की गिरफ़्तारी पर जो निर्भीक और अनियंत्रित फटकार उसने विशालसिंह को सुनाई है वह भी उसकी आयु के अनुसार नहीं मालूम होती है: 'मुझे किसी ने कटु वचन कहे होते तो फ़रियाद करने न आती। अपने लिए आपको कष्ट न देती। लेकिन आपने अपने तिलकोत्सव के दिन एक ऐसे प्राणी पर अत्याचार किया है जिस पर मेरी असीम भक्ति है, जिसे मैं देवता समझती हूँ, जिसका हृदय कमल के जल-सिंचित दल की भाँति पवित्र और कोमल है, जिसमें सन्यासियों का त्याग और ऋषियों का सत्य है, जिसमें बालक की सरलता और योद्धाओं की वीरता है। आपके न्याय और धर्म की चर्चा उसी पुरुष के मुँह से सुना करती थी। अगर यही उसका यथार्थ रूप है तो मुझे भय है कि इस आतंक के आधार पर बने हुए राज-भवन का शीघ्र ही पतन हो जायगा, और आपकी सारी कीर्ति स्वप्न की भाँति मिट जायगी।.........क्या प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु तो नहीं हैं।' हमें यह याद रखना चाहिए कि मनोरमा राजा साहब से मिली हुई नहीं थी। राजा साहब ने अब से केवल एक साल पहले उसे देखा था। मनोरमा शायद आज ही उनसे मिली थी।

परन्तु तेरह वर्ष की आयु साभिप्राय है। इसका अभिप्राय मनोरमा को कौमार्य और यौवन की देहली पर खड़ा करना है। बाल-वात्सल्य के सहज स्नेह और विश्रम्भ के भाव धीरे-धीरे यौवन के स्नेह में परिणत हो जाते हैं, यही इस अवस्था की परिणति हो सकती है 'कायाकल्प' में। परन्तु, ऐसा नहीं होता। रामायण वाली शङ्का का अपने अनुरूप उत्तर लेकर वह चक्रधर के साथ अब संकोच नहीं करती, उसे कुछ पूछने में भय नहीं लगता, पढ़ाई-लिखाई भी अधिक मन लगाकर करती है। यह स्वाभाविक है। किसी रूप में भी अपने पक्ष में किसी को कुछ कहते देख बालक का उस पर विश्वास होने लगता है। परन्तु सहसा यौवनजनित भाव उदय नहीं हो जाते—बालक युवा होता ही नहीं। मनोरमा कुछ ही रोज़ बाद चक्रधर के वेतन के १२०) अपने पास से चोरी से लाकर देती है—यद्यपि उनका वेतन हरिसेवक ने उनके सामने ही उन्हें दे दिया

है—और उनके न लेने पर रुपयों को गंगाजी में फेंक आने की धमकी देती है। उसने उनके आगरे जाने की भी बात सुन ली है। परन्तु उसका कारण नहीं जानती। चक्रधर बतलाते झेंपते हैं, परन्तु यदि वह उसे बिना बतलाये चले जायंगे तो वह एक अक्षर भी न पढ़ेगी। और, जब वह झेंपते हुए कहते हैं—'मेरे विवाह की कुछ बातचीत है,' तो उनको बरामदे तक पहुँचाकर वह तुरन्त अपने कमरे में लौट आती है। इस समय, 'उसकी आँखें डब-डबाई थीं और बार-बार रुलाई आती थी।' यदि इस अवस्था के विकास तक दो वर्ष बीत जाते तो अच्छा और अधिक स्वाभाविक होता। यह काम एक-दो सप्ताह का न था और तेरह वर्ष की बालिका में किञ्चित् असामयिक मालूम होता है। चक्रधर के विवाह की बात सुनकर उसके रोने से ज्ञात होता है कि वह शायद अभी से उनको पति-रूप में देखने लगी थी और कदाचित् उनसे वैवाहिक सहानुभूति की एक क्षीण आशा करती थी। तथापि उन दोनों में अभी तक कोई ऐसी बात नहीं हुई थी जिससे एक-दूसरे को स्नेह-भाव का इशारा मिल सके। पाठक को भी स्थान-स्थान पर मनोरमा के आग्रहों को पढ़कर यही ख़्याल होता है कि वह एक अति चञ्चल और शायद ज़िद्दन बालिका थी।

(४)

'कायाकल्प' के अन्य पात्रों की परीक्षा करने के लिए स्थान की कमी है। उपनायक की हैसियत से राजा विशालसिंह हमारी चित्तासक्ति के अधिकारी हैं। परन्तु हम यहाँ इतना ही कह सकते हैं कि उनका चरित्र साधारण रूप से अच्छा चित्रित हुआ है। अहल्या का चित्रण हमें पसन्द नहीं आया। अपने चरित्र की जिस ऊँचाई से वह जिस नीचाई में गिर पड़ी है, इसका समाधान उसकी परिस्थितियों से नहीं होता। वह यथार्थ में राजा विशालसिंह की पुत्री थी, परन्तु तीन वर्ष की आयु में ही ग्रहण के मेले में खो जाने के कारण यशोदानन्दन ने उसे पाला था। चक्रधर से विवाह हो जाने के बाद वह मनोरमा की बीमारी में जगदीशपुर आने पर पहचान ली जाती है और फिर अपने असली पिता के यहाँ रहने लगती है। हरिसेवक के चरित्र में कोई विशेष जटिलता नहीं है और इसलिए उसकी आलोचना की कोई आवश्यकता नहीं। ख़्वाजा महमूद का चरित्र अवश्य अनेक विषमताओं से भरा हुआ है और उसके सम्बन्ध में हमें कुछ कहना होगा। यह इसलिए भी कि उसका सम्बन्ध आजकल की एक प्रधान—अथवा सर्व-प्रधान—समस्या से है, जिसको हल करने की प्रेमचन्दजी ने चेष्टा की है।

उन दिनों यशोदानन्दन कालिज में पढ़ते थे। महमूद एक अमीर का लड़का

था और यशोदानन्दन का बड़ा मित्र था। उसके साथ वह भी सेवा-समिति में दाख़िल हो गया था। इन दोनों मित्रों ने ही खोई हुई अहल्या को नाली में पड़ी पाया था।

महमूद का सेवासमिति का सदस्य होना ज़रा अधिक नहीं जँचता था। आदर्शवादिता को लेते हुए और भारतवर्ष की एक सामाजिक तथा राजनैतिक समस्या को हल करने की दृष्टि से यह स्थिति पैदा करना, सम्भव है, क्षम्य हो; परन्तु स्वाभाविक जीवन-गति को देखते हुए एक मुसलमान द्वारा सेवासमिति क हार्दिक सेवा होना और एक हिन्दू के साथ सगे-भाई के विश्रम्भ और विश्वास के साथ काम करना किञ्चित् अदृष्टपूर्व बात है। हम अपवादों की सत्ता का अस्वीकार नहीं करते। परन्तु अपवाद हमारे सामान्य जीवन की दाल-रोटी नहीं है और उन्हें सिद्ध करने के लिए कलाकार के लिए उनकी पोषक परिस्थिति उत्पन्न करना आवश्यक है। आदर्शवादिता के भी विपक्ष में हम नहीं हैं। कलाकार आदर्शवादी न हो, यह कभी किसी ने नहीं कहा था। परन्तु आदर्श को स्वाभाविक मनुष्यता के ढांचे में ढालने के लिए भी परिस्थिति का विकास दिखाना पड़ता है। विदेशी साहित्य में भी प्रख्यात उपन्यासकारों ने आदर्श चरित्रों का चित्रण किया है, परन्तु उन्होंने अपने आदर्श का विकास धीरे-धीरे और इस खूबी से दिखाया है कि उसमें आदर्श और वस्तु मिलकर एक पदार्थ हो गए हैं। उदाहरण के लिए,'इंटर्नल 'सिटी' में रामा का प्रेम और त्याग आदर्श होते हुए भी बिलकुल उसी प्रकार विकसित होता है जिस प्रकार पाँच-सौ वर्ष पुराना बरगद का पेड़, जिसके दर्शन मात्र से गौरव और सम्मान के भाव उदित होते हैं, एक छोटे-से बीज की दशा से अनेक अङ्कुर-प्रत्यङ्कुरों की अवस्था को पार करता हुआ आकाश की ओर चढ़ता है आदर्श अथवा अनादर्श, स्वयंभू चरित्रों का वर्णन पुराणों की धर्म-कथाओं का ही उपयुक्त विषय है।

जब तक हम यह अच्छी तरह न जान लें कि महमूद विश्वमैत्री और एक विश्वधर्म का उपासक था अथवा वह हिन्दूधर्म के पक्ष में था, जिसका 'कायाकल्प' में कोई प्रमाण नहीं मिलता, तब तक एक आदर्श-हिन्दू-उद्योग में उसका सच्चा सहयोग देना, हमको अधिक ग्राह्य नहीं हो सकता। हमको यही समझाना होगा कि वह मुसलमान था और यदि उसमें कोई धार्मिक जोश था तो वह उसके साम्प्रदायिक धर्म के लिए ही रहा होगा और, उसमें धार्मिक जोश था। वह धार्मिक जोश का मर्म भी समझता था। यह उसी की एक उक्ति से भासित होता है। यशोदानन्दन लड़की खोने वाले के गंगा-

स्नान पर कुढ़ते हैं तो महमूद उसको डाटकर कहते हैं—'तुम(Athiest) हो, तुम क्या जानो कि सच्चा मज़हबी जोश किसे कहते हैं।' महमूद (Athiest) (नास्तिक) नहीं था और वह हिन्दू भी नहीं थे। गो-वध के मौक़े पर चक्रधर की समझदारी से प्रभावित होकर वह उनसे कहता है—'तुम कलमा क्यों नहीं पढ़ लेते।'

ग्रहण के पन्द्रह वर्ष बाद आगरे में एक मौलवी के भड़काने से वहाँ के मुसलमानों की विद्वेषाग्नि भड़क उठती है। इस समय महमूद और यशोदानन्दन की पचीस वर्ष की दोस्ती थी। इन २५ वर्षों में यशोदा को शायद स्वप्न में भी उस पर शक होने का अवकाश न मिला। चक्रधर के साथ बनारस से लौटने पर महमूद की कायापलट का हाल सुनकर वह कहता है—'जिस आदमी को आज २५ वर्षों से देखता आता हूँ—उस पर क्योंकर न विश्वास करता। दुनिया कुछ कहे, पर मुझे ख्वाजा महमूद पर कभी शक न होगा, इन बातों से यही अनुमान होता है कि ख्वाजा महमूद एक उदार और उच्च चरित्र का व्यक्ति था और उसे मुसलमान-धर्म की सङ्कीर्णता और कट्टरता छू तक न गई थी। कट्टरता का न होना असम्भव बात नहीं है। परन्तु आजकल-जब कि अनेक शताब्दियों से हिन्दू मुसलमानों में आये दिन जूतम पैज़ार होती रहती है, एक मज़हबी मुसलमान में कट्टरता और हिन्दू द्वेष का न होना उसे देवता की पदवी पर बिठाता है। लेकिन महमूद वैसा देवता नहीं है। अपनी २५ वर्ष की शान्ति और उदारता के बाद केवल एक मौलवी का व्याख्यान सुनकर हिन्दुओं की ज़्यादतियों पर उबल पड़ता है—उनकी दिलआज़ारी करने पर सन्नद्ध हो जाता है—और यशोदा से उनकी बड़ी कड़ी और खुले विरोध की बातें हो जाती हैं। वह कहता है—'इसलिए कि कुर्बानी करना हमारा हक़ है। अब तक हम आपके जज़बात का लिहाज़ करते थे, अपने माने हुए हक़ को भूल गए थे। लेकिन जब आप लोग अपने हक़ों के सामने हमारे जज़बात की परवा नहीं करते तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हक़ों के सामने आपके जज़बात की परवा करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक़ हासिल है। लेकिन कम-से-कम पाँच सौ बरसों से आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुरदा हक़ को ज़िन्दा किया है। इसीलिए न कि मुसलमानों की ताक़त और असर कम हो जाय। जब आप हमें ज़ेर करने के लिए नए-नए हथियार निकाल रहे हैं तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि हम भी अपने हथियारों को दुगुनी ताक़त से चलायें।"

इसके साथ ही एक बात और ध्यान में रखने की है कि इस झगड़े का समय अभी साल दो साल के भीतर का है; क्योंकि यशादा-महमूद-संवाद में शुद्धि-संगठन और मसजिद के आगे बाजे बजाने आदि का ज़िक्र आया है। हिन्दू-मुसलमानों का विरोध इतना कभी नहीं बढ़ा जितना आजकल बढ़ा हुआ है ज़रा-ज़रा से लड़के—ख़ासकर मुसलमानों के—उसकी गति और प्रकृति से परिचित हैं। पढ़े-लिखे व्युत्पन्न ख़्वाजा जी इस हिन्दू-मुसलिम प्रगति से मौलवी के आगमन के पहले तक बिलकुल अपरिचित रहे हों, यह कैसे हो सकता है? और उससे परिचित होते हुए तथा प्रतिदिन के आग-भरे समाचारों को सुनकर भी यदि उनकी मुसलिमता ने ज़ोर न मारा हो तो वे देवता थे तथा उन पर इस समय मौलवी का जादू— हाँ, जब तक वह जादू वास्तव में टोने-टोटके का जादू न हो—न चलता। महमूद का जो काया-पलट यहां दिखाई देता है उससे हम यही समझ सकते हैं कि जिसे प्रेमचन्द जी उनका सौजन्य, उनकी शिष्टता और सौम्यता समझते है वह वास्तव में उनकी एकदम चेतना-विहीन निद्रा थी और जब २५ वर्ष तक निरन्तर किसी बहिर्जगत् में सोने के बाद यकायक जागे तो उसने रिपवान (Ripvan Winkle) की तरह अपने को एक नई ही दुनिया में पाया और यह उसकी असाधारण और अलौकिक प्रतिभा थी कि वह अपनी नई परिस्थिति का सामना करने के लिए फौरन दुगुनी ताक़त से तैयार हो गया।

परन्तु महमूद की चरित्र-ग्रन्थि इतनी ही पेचीदगी से सन्तुष्ट नहीं हो जाती। कुर्बानी के मौक़े पर चक्रधर की अनुनय और समझदारी की बातें सुनकर वह मौलवी साहब की उद्दण्डता पर चिढ़कर बोले—क्या शरीअत का हुक्म है कि कुर्बानी यहीं हो, किसी दूसरी जगह नहीं का जा सकती?" वह मोलवी को खूब खरी-खरी सुनाते हैं और आगे चलकर कहते हैं—"आपको तो अपने हलवेमाँडे से काम है ज़िम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयगी' इत्यादि। इससे उनके चरित्र का एक और पहलू व्यक्त होता है। वह यह कि महमूद में स्वयं सोचने-समझने की तथा उसके अनुसार कार्य करने की शक्ति ही न थी। अभी कल एक मौलवी की ज़रा-सी बात से वह हिंसात्मक पशु बन गया था और आज चक्रधर की पन्द्रह मिनट की बातें सुनकर उसका पुनः रूप-परिवर्तन हो गया। हम समझते हैं आज शाम को ही एक दूसरे मौलवी के कहने पर एक मन्दिर तुड़वाने को उद्यत हो जाता और अगले रोज उसकी अगर फिर चक्रधर से बातें होतीं तो वह दो मन्दिर बनवा भी देता। महमूद एक ऐसा व्यक्ति मालूम होता है जो अपनी नकेल एक साथ कई आदमियों के हाथ में आसानी से छोड़ दे

सकता है। संसार में ऐसे सीधे लोग अक्सर होते हैं जो स्वयं विचार-शक्ति के अभाव के कारण दूसरों के बहकाने या कहने-सुनने से अपना आचरण बदलते रहते हैं। हमें सन्तोष होता यदि मुन्शी प्रेमचन्द का अभिप्राय ख्वाजा का ऐसा ही चरित्र दिखाने का होता। परन्तु ख्वाजा के वर्णन में प्रेमचन्दजी के प्रथम शब्द से अन्तिम शब्द तक यही भाव उत्पन्न करने की चेष्टा दिखाई देती है कि वह बड़ा उच्च, उदार और समझदार आत्मा था और एक फ़िसादी मौलवी के प्रभाव में पड़कर ही उसकी उच्चता में कालिमा लगते-लगते रह गई। उसकी उदारता और उच्चता और अधिक प्रस्फुटित होती है जब वह कुर्बानी के स्थान से चक्रधर को गले लगाकर विदा करते समय सन्तोषी तितिक्षु की दुःख-निवेदना के स्वर में कहता है—'**काश, तुम जैसे समझदार तुम्हारे और भाई भी होते! मगर यहाँ तो लोग हमें मलिच्छ कहते हैं, यहाँ तक कि हमें कुत्तों से भी नाकिस समझते हैं। उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं, पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता....।**'

इसके आगे उसकी आत्मा और भी अधिक उज्ज्वलता से प्रोद्भासित होती है, वह उस मर्यादा तक उठ जाती है, जो इने-गिने ईश्वर-प्रेष्य मानवों का ही भूषण है। अहल्या ने उसके लड़के की कुचेष्टा से अपनी रक्षा करने के लिए उसके सीने में छुरी भोंक दी है। उसी लड़के का ज़िक्र करते हुए महमूद चक्रधर से कहता है—"एक घण्टा पहले तक मैं उस पर निसार होता था। अब उसके नाम से नफ़रत हो रही है।" तथा फिर "यह खुदाई कहर था जो छुरी बनकर उसके सीने में चुभा। मुझे ज़रा भी मलाल नहीं है, ज़रा भी ग़म नहीं है यह सचमुच देव-चरित्र है और हम इसे देव-चरित्र के रूप में (मानव-चरित्र के रूप में नहीं) अवश्य स्वीकार कर लेते, यदि मौलवी के शब्दों को उनके ऊपर इतनी सफलता प्राप्त न होती। और, न इस सफलता से महमूद का देव-चरित्र मानव-चरित्र बनता है। महमूद की वह एक सामान्य दुर्बलता नहीं थी। कुर्बानी से आरम्भ हुई लड़ाई फिर जीवन-भर चलती है, जिसमें ख्वाजा का भाग नेता का होता है। अतएव, उसके उस समय के भयानक विद्वेष-भाव और कट्टरपन से हम तो यही समझते हैं कि उसके भीतर मुसलिम मज़हबीपन का संस्कार विकट रूप से मौजूद था और आश्चर्य यही है कि वह २५ वर्ष तक उसकी सरल देव दृष्टि से अपने को छिपाए रह सका। क्या देव-चरित्र की मानवता को दिखाने के लिए यह अधिक स्वाभाविक और पर्याप्त नहीं होता कि वह मौलवी की बातों को सुनकर कुछ प्रभावित होते, एक बार दुःख से 'ओफ़! अच्छी बात

है' कहकर कार्य के लिए आमादा हो जाते। फिर कभी एकान्त में लेटे-लेटे मौलवी की बातों को सोचता—(सोचता ही, क्योंकि उसके निर्व्याज शुद्ध हृदय को मौलवी की अकल्पित सूचनाओं से आघात लगने के कारण चैन नहीं पड़ता)—और अन्त में उसकी देव-प्रवृत्ति उस पर विजय पाती। परन्तु यह सब भी हम उसी समय मान सकते हैं जब हम यह निश्चय कर लें कि ख्वाजा संसार के तुमुल से बाहर एक ऐसी उदासीनता के राज्य में रहते थे जहाँ न लोगों की अफ़वाहें पहुँच सकती थीं, न दुष्टों की कानाफूसी, और न आजकल के ज़हर उगलने वाले अख़बार। महमूद के चरित्र की प्रधानता हमको प्रचार के उद्देश्य का भ्रम कराती है;—जिसका नायक-नायिका की कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से यह उपन्यास में निरर्थक है। गो-वध के अवसर पर चक्रधर की बहादुरी दिखाने के लिए ख्वाजा के बिना भी काम चल सकता था।

'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' के कुछ समालोचकों की राय है कि मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुसलिम-पक्षपात की ध्वनि रहती है। हमने भी इस बात की कुछ ध्वनि इन दोनों उपन्यासों में पाई है और 'कायाकल्प' में भी पाते हैं। किसी कलात्मक कृति की आलोचना में लेखक की व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्ति के जिक्र करने का अवकाश कम रहता है। तथापि कभी-कभी उसकी जरूरत पड़ जाती है। बात यह है कि उपन्यास-लेखक के लिए भी अपने ग्रन्थ में हिन्दू-मुसलिम-सम्बन्ध-जैसे संशयमूलक विषयों पर अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों को उपस्थित करना कभी-कभी अनुपयुक्त हो जाता है, क्योंकि उसमें दुराग्रह के समावेश का भय रहता है। साथ ही जो पुस्तक जिस जनता के लिए लिखी जाती है वह यदि उसमें ग्लानि के भाव उत्पन्न करे तो वह असफल प्रयत्न है और उपन्यास के सबसे पहले आदर्श और ध्येय से गिर जाती है। यदि एक उपन्यास आजकल के दिनों में हिन्दुओं की तमाम बुराइयों, कमज़ोरियों और ज़्यादतियों का ही वर्णन करे—और वह शायद इसलिए कि उससे मुसलमानों की शराफ़त, नेकनीयती और शान्त-प्रियता का अधिक प्रकाश हो—तो उससे जनता का मानसिक स्वास्थ्य कहाँ तक अच्छा रहेगा और वह कहाँ तक उस उपन्यास को उपन्यास की भाँति ग्रहण करेगी? हम हिन्दू मुसलमानों के जातीय चरित्र पर बहस नहीं कर रहे हैं और न हमें यह कहना है कि उपन्यासकार हिन्दुओं का गुणगान और मुसलिमों का दोष-निरूपण करें। परन्तु ऐसी नाज़ुक समस्या को हाथ में लेते समय लेखक अपने को एक मध्यस्थ की अवस्था में रखकर एक बार यह अवश्य सोच ले कि किसी पक्षविशेष की तरफ़ उसकी कोई

विशेष व्यक्तिगत सहानुभूति तो नहीं है और उसके लेख में उस सहानुभूति की छाया तो नहीं पड़ जायगी। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने को दुराग्रह से नहीं बचा सकेगा। 'कायाकल्प' के कुछ पात्रों की भिन्न उक्तियाँ पढ़कर हमें कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है जितनी ज्यादतियां हैं वे हिन्दुओं की ही हैं, हिन्दू ही अपकारी हैं और मुसलमान बेचारे गऊ हैं। हमने महमूद की दो उक्तियाँ ऊपर अवतरित की हैं। इधर-उधर के कुछ अन्य दो-एक अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

'यशोदा—कैसी बातें करते हो जी! क्या यहाँ अपनी आँखों से गऊ की हत्या होते देखें?'

'चक्रधर—अगर आप एक बार दिल थामकर देख लेंगे तो यक़ीन है कि फिर आपको कभी यह दृश्य न देखना पड़े।'

मनोरमा को आगरे का हाल सुनाते हुए चक्रधर कहते हैं—'...मैं तो यही **कहूँगा कि मुसलमानों को लोग नाहक़ बदनाम करते हैं। फ़िसाद से वे भी उतना ही डरते हैं जितना हिन्दू! शान्ति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है।** लोगों का यह ख़्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं बिलकुल ग़लत है। **मुसलमानों को केवल यह शङ्का हो गई है कि हिंदू उनसे पुराना वैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती मिटा देने की फ़िक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे ज़रा-ज़रा सी बात पर तिनक उठते हैं** और मरने-मारने पर आमादा हो जाते हैं।' पृष्ठ ७२। इस तरह की उक्तियाँ प्रायः चक्रधर से ही कहलाई गई हैं जो उपन्यास के सबसे 'समझदार' व्यक्ति हैं।

'ख़्वाजा साहब ने फ़तवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू-औरत को निकाल ले जाय उसे एक हज़ार हज्जों का सवाब होगा। **यशोदानन्दन ने काशी के पण्डितों की व्यस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गऊ-दानों से श्रेष्ठ है,** पृ० ३३०। हम तो सचमुच इसे पढ़कर सहम जाते हैं। हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि हिन्दू इतने साहसी और नीच हैं। क्या सचमुच हिन्दुओं से इस प्रकार व्यवस्था मँगवाने की कल्पना की जा सकती है? हाँ, फतवों और हिन्दू-औरतों के भगाये जाने की बातें तो रोज़ सुनते हैं। हिन्दू-कलंक की इस अतिरञ्जना का क्या अभिप्राय है? क्या हिन्दू-संगठन के नेताओं की ख़बर ली जाती है?

'सेवा-दल के दो सौ युवक तलवारें ले-लेकर निकल पड़े और मुसलमान

मुहल्लों में घुसे।' पृ० ३३१-३२। हिन्दुओं की जातीय वीरता, जो आत्म-रक्षा तक में यथेष्ट रूप से समर्थ नहीं होती, क्या सचमुच ऐसा कर सकती है? आज तक कहाँ-कहाँ ऐसा हुआ है?'

'चक्रधर—अगर इस गाय की कुर्बानी करना आप अपना मज़हबी फ़र्ज़ समझते हों तो शौक़ से कीजिये। मैं आपके मज़हबी मामले में दख़ल नहीं दे रहा हूँ। लेकिन क्या यह लाज़मी है कि इसी जगह कुर्बानी की जाय?' हमारी समझ में, यदि हिन्दुओं की बहू-बेटियों को भगा ले जाना मुसलमानों का मज़हबी फ़र्ज़ है तो उसमें भी हमें रोक-टोक न करना चाहिए। हाँ, मुसलमानों से हम इतनी प्रार्थना कर सकते हैं कि वह हमारी आँखों के सामने ऐसा न करें।'

बहुत अवतरण देने की आवश्यकता नहीं है। हमको ऐसे स्थानों पर पढ़ते-पढ़ते परम ग्लानि हुई है, जिससे चक्रधर-मनोरमा की कहानी पढ़ने के आनन्द में व्याघात पहुँचा। यथार्थ में, हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न उपन्यास में बिलकुल एक स्वाधीन विषय है और उसको प्रधान कथा में ज़बर्दस्ती स्थान मिला है। इस ज़बर्दस्ती के कारण पुस्तक में कुछ असावधानताएं भी हो गई हैं, जैसे—

(१) 'हज़ारों आदमियों का जमाव था। यद्यपि किसी के हाथ में लाठी या डंडे न थे। पर उनके मुख जिहाद के जोश से तमतमाए हुए थे।' परन्तु कुछ क्षण बाद ही 'उधर मुसलमानों ने भी डंडे सँभाले।' पृष्ठ ४१ और ४४।

(२) गो-वध के अवसर पर लड़ाई के लिए उद्यत, और काशी से व्यवस्था मँगाने वाले, यशोदानन्दन, बाद की एक लड़ाई में, हाथ में पिस्तौल होने पर भी गोली न छोड़ सके। इसलिए कि, 'अहिंसा के आदर्श ने हिंसा का हथियार हाथ में होने पर भी उनका दामन न छोड़ा।

(३) कायाकल्प की घटनावली, प्रस्तावना-परिच्छेद को छोड़कर, वर्तमान शुद्धि और हिन्दू-संगठन के समय से आरम्भ होती है। इसके बाद किस्सा भविष्य की लम्बी यात्रा में वर्षों चक्कर काटता है यदि इसका आरम्भ-काल १९२४ या १९२५ ई० मान लें तो यह कहीं १९६० ई० के पास समाप्त होता है। यह एक बड़ी भारी असावधानता है।

जो कहानियाँ आज लिखी जाती हैं उनकी घटनाएँ अतीत की ही समझी

जाती हैं और वैसा ही उनके वर्णन का ढंग होता है। परन्तु भविष्य की अज्ञात घटनाएं अतीत में नहीं ढकेली जा सकतीं। 'कायाकल्प' के अन्तिम पैरे (Paragraph) को यदि उसके समय का अनुमान करते हुए लिखा जाय तो (आजकल १६२८ में) वह कुछ-कुछ इस तरह पढ़ा जायगा (मालूम नहीं प्रेमचन्दजी किस तरह लिखते।)

'रानी कुछ न बोली।' बीसवीं शताब्दी बुढ़ापे के भार से कसक रही थी और अपनी जवानी की मुरादों की जीर्ण समाधि पर उसने एक-एक कर काल के पूरे साठ प्रहार गिने। हाँ, उसका साठा समाप्त हो चुका था। रानी भी शायद अपने जीवन के प्रहारों से अपने अतीत के दिन गिनने की चेष्टा, कर रही थी। 'वह पिंजड़े में बन्द दोनों चिड़ियों को सजल नेत्रों से देखने लगी'? उनमें उसे अपने भूत का सम्पूर्ण निराशामय चित्र दिखाई दे रहा था।'

'कायाकल्प' में यत्र-तत्र और भी कुछ भूलें हो गई हैं जो दूर की जा सकती थीं। हम दो-चार का उल्लेख करते हैं:

(१) ग्रहण के अवसर पर जो गहनों से लदी हुई बालिका नाली में पड़ी रोती हुई मिली थी वह राजा विशालसिंह की अहल्या थी। यदि वह किसी धर्मान्ध मारवाड़ी की लड़की होती तो उसे इस तरह नाली में डालना उचित था राजा साहब यदि नहाने आये थे तो वह एक साधारण व्यक्ति की भाँति उस भीड़ में अपने किसी विशेष प्रबन्ध के बिना भटकते फिरे हों, यह नहीं समझ में आता कम-से-कम एकाध पालकी और दो-एक चोबदार अवश्य उनके साथ रहे होंगे उनका वंश बड़ा प्रशस्त था और, इस समय ग़रीबी की दशा में भी, मर्यादा का पालन किया जाता था।

(२) चक्रधर को देखने के लिए आकर, यशोदानन्दन उनसे आगरे चलने को कहते हैं और कहते हैं—मैं तो उसी को लाकर दो-चार दिन के लिए यहाँ ठहरा सकता हूँ। चक्रधर भी उनकी बात का विश्वास करके डर से आगरे चलने को राज़ी हो जाते हैं। यशोदा का इस तरह कहना उनकी भद्दी चाल ही हो सकती थी और चक्रधर का विश्वास करना उनकी वज्र मूर्खता! लड़के तलाश करने के लिए कोई अपनी कन्याओं को साथ नहीं लिये फिरता और न दो-दो चार-चार दिन के लिए उन्हें अपने ईप्सित दामादों के यहाँ ठहराता ही है।

(३) आगरे में यशोदानन्दन के मकान पर चक्रधर की वागेश्वरी और अहल्या

से देखा-सुनी होने के बाद माँ-बेटी में जो बातचीत होती है वह यदि ननद-भावजों में कराई जाती तो अधिक उपयुक्त होती। वागेश्वरी अहल्या की, मातृस्थानीया क्या, माता ही थी। परन्तु वह चक्रधर तक से, अहल्या के सामने ही कहती है—'क्या इसे देखकर भूख-प्यास बन्द हो गई; यह मोहिनी है, ज़रा इससे सचेत रहना।'

(४) यशोदा के दो पुत्र और दो पुत्र-वधू थीं। इनका केवल आरम्भ में प्रसंग से ज़िक्र आ गया है। कथा की घटनावली में इनका कहीं कोई भाग नहीं है। परन्तु उनका भाग होना अनिवार्य है। आगरे की लड़ाइयों में, और विशेष-रूप से यशोदा की मृत्यु के बाद, ये लोग कहाँ चले गए, यही हम सोचते हैं। जब पुत्र थे तो अवश्य ही कुछ काम करते और उससे घटना-चक्र बदलता। तब क्या घटनाक्रम को अपने ढंग से आकुञ्चित करने के लिए इस सम्बन्ध में ख़ामोशी अख़्तियार कर ली गई है? या ख़्वाजा महमूद का उत्कर्ष दिखाने के लिए, जो यशोदा की लाश पर कन्धा देते हैं, उनके मरने पर वागेश्वरी को आर्थिक सहायता देना चाहते हैं, और अहल्या के विवाह में ५,०००) ख़र्च करते हैं?

(५) 'माघ की ठंड पड़ रही थी' (६०)। किसी बात पर झुँझलाये हुए मुंशी वज्रधर ने लोटा-भर पानी सोती हुई मंगला के मुँह पर डाल दिया। मंगला 'यह समझ कर कि वर्षा हो रही है कोठरी में घुस गई' (६१) क्या माघ के दिनों में मंगला आँगन में सोया करती थी। या, बरामदे में सोती हुई, लोटा भर पानी अपने मुँह पर गिरा देख, उसने यह समझा कि रात में बिजली ने गिरकर छत में एक बहुत बड़ा सूराख़ कर दिया है और तमाम छत का पानी उसमें होकर पतनाले की तरह उसके ऊपर गिर रहा है?

(६) 'मनोरमा सोती-सोती स्वप्न देख रही थी। यही विचित्र दृश्य देखते-देखते मनोरमा की आँख खुल गई। उसकी आँखों से अभी तक आँसू बह रहे थे।' क्या स्वप्न में रोते-रोते हमारी आँखों से आँसू बहते हैं?

'कायाकल्प' में कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर उक्तियाँ हैं जो दिल पर असर करती हैं, यथा—'सारी बरात हँसती थी। दूल्हा रो रहा था।' (पृ० १४४)। 'जो पेट भर कर रोया नहीं, उसे फिर हँसते नहीं देखा' (पृ० ६१७)। कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जो मन में ग्लानि उत्पन्न करती हैं; जैसे—निर्मला का अपने पुत्र चक्रधर से कहना; 'क्या जन्म-भर छूटे साँड़ बने रहने को जी चाहता है?'

(पृ० १७) जेल में दारोगा का चक्रधर से कहना, 'मुझे उनकी आँखों...... का मजाज़ है' (पृ० २४२), इत्यादि।

'कायाकल्प' में कहीं-कहीं शब्दों और वाक्यों के अशुद्ध और अर्थहीन प्रयोग भी हुए हैं, जैसे—प्रथमा एकवचन में 'नारि' (४२४-२५-४४-८६ आदि); कर्ता के साथ 'सोचे'—वह 'सोचे', चक्रधर 'सोचे' आदि—(पृ० १०, ८०, १२८-७२, ४३८, ६१२ आदि); 'आश्रित' के स्थान पर 'आश्रेता' (४५७); 'वक्तों, (११८), 'मनोल्लास' (३१०); 'पुनर्संयोग' (१०६); 'औरत चाँदनी कभी इतनी सुहृद और विहसित (३७); 'पराग के प्यासे मकरन्द की भाँति' (३१५) धवल के समान उज्ज्वल' (४२३) इत्यादि।

पुस्तक में जगह-जगह पर अन्य भाषाओं के मुहावरे भी आये हैं, जिनमें कोई-कोई शोभन हैं और कोई-कोई नहीं। कुछ उदाहरण ये हैं:—'समय के *अत्याचार*' (*ravages of times*); '*अभिलाषाओं की समाधि*' (हसरतों का मज़ार); 'एक सौ एक' (one hundred and one); 'छी! छी!' (बँगला छी ! छी !')। पिछले दो अच्छे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रचलित नहीं हैं। 'एक सौ एक बार कह दिया' की अपेक्षा 'सौ बार' या 'हज़ार बार' तो कह दिया' अधिक श्रुतिप्रिय है। 'छी छी' की अपेक्षा 'राम ! राम !' अधिक अच्छा है। हिन्दी-साहित्य में 'छी छी' का प्रयोग लोगों ने, वास्तव में, बँगला के उपन्यासों में ही किया है।

उपन्यास का नामकरण भी उपयुक्त नहीं है। पुस्तक का विषय कायाकल्प नहीं है और न वह पुस्तक के इतने विस्तार से सिद्ध ही होता है। कायाकल्प की कहानी समाप्त हो जाने पर भी उपन्यास का सिलसिला जारी रहता और वह मुख्य कथा की उपसंहृति के साथ बन्द होता है। मुख्य कथा और कायाकल्प-कथा का मिश्रण भी नहीं किया गया है। दोनों कथाएँ स्वाधीन रूप से अलग-अलग चलती हैं। केवल अन्त में, महेन्द्रसिंह के अवतार को चक्रधर का पुत्र बनाकर, उन्हें मिलाने की चेष्टा की गई है। परन्तु महेन्द्र के अवतार के लिए यह एक ही बात है कि वह चक्रधर के पुत्र होते या किसी और के। दोनों सूरतों में कायाकल्प की कथा भी वही रहती और चक्रधर-मनोरमा की कथा भी वैसी ही रहती, जैसी वह है। यदि 'रंगभूमि' के सम्बन्ध में हमें यह आपत्ति है कि उसमें तीन भिन्न-भिन्न धाराएँ एक ही उद्गम (या संगम ?) से निकलकर तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हैं और फिर न मालूम कहाँ जाकर विलीन हो

जाती हैं तो 'कायाकल्प' के सम्बन्ध में हम यह कहते हैं कि यहाँ दो नदियाँ अपने-अपने उद्गमों से निकलकर बहुत दूर तक बराबर-बराबर समानान्तर से चली जाती हैं और अन्त में सहसा एक दूसरी से मिल जाती हैं। स्थानाभाव के कारण हम 'कायाकल्प' के कायाकल्प-भाग पर अपने विचार प्रकट करने में असमर्थ हैं।

: ६ :

'विश्वास'

श्री प्रेमचन्द की गल्पों के 'प्रेम-प्रमोद' नामक संग्रह का हाल ही में प्रकाशन हुआ है, इस संग्रह की पहली कहानी का नाम है 'विश्वास'। हालकेन को श्री-गणेश मानकर उन्हीं की स्मृति में शायद यह कहानी लिखी गई है। 'विश्वास' का कथानक इस प्रकार है—

बम्बई के गवर्नर मिस्टर जौहरी की प्रेमिका मिस जोशी नाम की एक अध्यापिका थी। मिस्टर जौहरी के जितने कूटनीति के काम होते थे उनकी एक-मात्र साधिका भी मिस जोशी ही थी। वह अपने हाव-भाव द्वारा अपराधियों को अपना शिकार बनाकर उनके गुप्त रहस्यों का पता लगा लेती और फिर उन्हें मिस्टर जौहरी के हाथों में सौंप देती थी।

किसी समय बम्बई की व्यवस्थापिका-सभा ने नाज पर कर लगा दिया, और देशभक्त मिस्टर आप्टे ने एक सार्वजनिक सभा में इसके विरुद्ध उत्तेजना फैला दी। अपने व्याख्यान में उन्होंने मिस जोशी के चरित्र-आदि पर भी कटाक्ष किया। इससे अधिकारी-वर्ग में बड़ी हलचल मच गई और आप्टे गिरफ्तार कर लिये गए। परन्तु मिस जोशी ने अपने युक्तिबल से आप्टे को पूर्णरूप से फँसाने का विश्वास दिलाकर मिस्टर जौहरी से उन्हें मुक्त [illegible]

अब मिस जोशी आप्टे के घर पहुँचीं। पर[illegible]
तथा उनकी शिष्टता और सचाई से प्रभावित हो[illegible]
उसने अपने प्रेम की घोषणा मिस्टर जौहरी से [illegible]
(मिस्टर जौहरी की) हत्या तक करने को [illegible]
जौहरी ने प्रेम और राजनीति में हार मान[illegible]
यहीं कथा का अन्त हो जाता है।

'विश्वास' नाम की कहानी हाल के [illegible]
अभिप्राय यह है कि 'विश्वास' का जन्म [illegible]

सुधा; वर्ष १, खण्ड १, संख्या ३।

मस्तिष्क की संकरता से हुआ है। हाल केन के "इटर्नल सिटी" का सारांश देना 'विश्वास' कहानी को ही दुहरा देना है। तथापि नाम-आदि के परिचय के लिए उसका कुछ साधारण वर्णन कर देना आवश्यक है :

इटली के प्रधान सचिव बैरन वानेली की प्रेमिका डोना रोमा भी कूट कर्मों में उनकी प्रधान सहायक होती थी, गवर्नमेंट द्वारा नाज पर कर लगा दिये जाने के कारण जब देशभक्त रॉसी ने समस्त रोम की जनता के सामने व्याख्यान दिया था तो उसने भी रोमा पर आक्षेप किया था। इस पर वह गिरफ्तार कर लिया गया था। परन्तु रोमा ने अचूक शस्त्रों द्वारा उसे बिलकुल तहस-नहस करने का भरोसा देकर वॉनेली से कहकर उसे छुड़वा दिया। किन्तु जब रोमा रॉसी के मकान पर पहुँचती है तो उसकी सादगी और शिष्टता से ठगी जाकर वह उस पर आसक्त हो जाती है, और धीरे-धीरे इस बात को वॉनेली से कह डालती है।

'इटर्नल सिटी' एक बड़ा उपन्यास है और 'विश्वास' एक कहानी। उपन्यास की घटनावली की तमाम शाखा-प्रशाखाएँ और उनकी परिस्थितियाँ कहानी में नहीं ली जा सकती थीं। उन सबको निकालकर 'इटर्नल सिटी' का जो सार-भाग था वह 'विश्वास' द्वारा हिन्दी में रख दिया गया है। परन्तु अंग्रेज़ी ग्रन्थ में परिस्थितियों का विकास दिखाने के कारण जो भाव-तरंगिणी हृदय को अवगाहन करने के लिए विवश करती है, 'विश्वास' में उसका कंकाल भी नहीं है। डेविड रॉसी का वक्तृत्व सुनकर रोमा के हृदय में एक स्पष्ट स्मृति-सी जागरित होती है...मैंने इस पुरुष को शायद कभी देखा है। फिर जब रोमा उससे मिलती है तो उसे अपना पुराना इतिहास मालूम होता है। रोमा के पिता इटली के एक बड़े सरदार थे, और वॉनेली ने राजद्रोह का अभियोग लगाकर उन्हें देश-निकाला दिलवा दिया था। रोमा उस समय दो-तीन वर्ष की थी। उसी समय उसके पिता को रॉसी एक गली में ठण्ड से सिसकता हुआ मिला था और वह उसे दया करके अपने यहाँ ले आये थे। बैरन ने बाद में छल से उनकी हत्या भी करवा डाली थी और उनकी लड़की को, जो उस समय बालिका ही थी, अपने यहां रखकर धीरे-धीरे उसे वर्तमान स्थिति में ला डाला था। रॉसी रोमा के उन्हीं पिता का अनुगामी था। जब वह निराश्रय हो गया तो प्राण-भय से इधर-उधर मारा-मारा फिरा, क्योंकि वॉनेली उसकी जान का भी गाहक हो गया था। इन बातों को सुनकर यह स्वाभाविक था कि वॉनेली की तरफ से रोमा के भाव क्षण-भर के लिए कुछ और-के

और हो जाते और उसे रॉसी से सहानुभूति होने लगती। परन्तु मिस जोशी आप्टे के घर पहुंचते ही उसे प्रेम करने लगती है।

अस्तु, यह तो दोनों कथाओं का स्थूल रूप हुआ। अब हम 'इटर्नल सिटी' और 'विश्वास' की अन्य बातों की तुलना करेंगे :

'विश्वास' का आरम्भ मिस जोशी के परिचय से होता है—'वह सारे प्रान्त के धन और कीर्ति के उपासकों की देवी थी। अगर किसी को ख़िताब का ख़ब्त था तो वह मिस जोशी की खुशामद करता था। किसी को अपने, या अपने सम्बन्धी के लिए कोई अच्छा ओहदा दिलाने की धुन थी तो वह मिस जोशी की आराधना करता। सरकारी इमारतों के ठेके, नमक, शराब, अफ़ीम आदि के ठेके, लोहे-लकड़ी, कल-पुर्ज़े आदि के ठेके, सब मिस जोशी के ही हाथों में थे।" रोमा का परिचय भी बहुत-कुछ ऐसा ही है, बातचीत करने वालों में से एक महाशय कहते हैं—"Why did the Prime minister appoint so-and so?—Donna Roma.....Through whom come titles, decorations, honours ?—Donna Roma who organises the great charitable committees, collects funds and distributes them ?—Donna Roma Always, always Donna Roma !" (इटर्नल सिटी, पृष्ठ २३)।

फिर मिस जोशी का प्रभाव ऐसा था कि—"जिस वक्त वह अपनी अरबी घोड़ों की फ़िटन पर सैर करने निकलती, तो रईसों की सवारियाँ आप ही आप रास्ते से हट जाती थीं।" रोमा की प्रशंसा में भी एक सज्जन कहते हैं—"Drives a pair of thoroughbreads in the corso every afternoon' and threatens to buy an automobile." (इ० सि०, पृष्ठ २३)।

परन्तु मिस जोशी के इस अमित प्रभाव का क्या कारण था? "उसकी प्रतिष्ठा, शक्ति और कीर्ति का कुछ और रहस्य था। सारा नगर ही नहीं, सारे नगर का बच्चा-बच्चा जानता था कि बम्बई के गवर्नर मिस्टर जौहरी मिस जोशी के बिना दामों के गुलाम हैं।" यही रहस्य रोमा की प्रतिष्ठा का भी था—

"She had the further advantage of being pre-

sented by the most courted man in the kingdom."
(इटर्नल सिटी, पृष्ठ २४)।

इस परिचय के बाद हम कथा-काल की परिस्थितियों से परिचित किये जाते हैं। "बम्बई की व्यवस्थापिका-सभा ने नाज पर कर लगा दिया था।" इटली में भी उन दिनों नाज पर कर लगाया गया था। इटली में नाज पर कर लगा था या नहीं, परन्तु बम्बई में हमें कभी ऐसा होने का पता नहीं है। खैर, यह वह समस्या थी जिसने बम्बई में आप्टे को और रोम में रॉसी को एक सार्वजनिक जमाव में बुलवाया। रोम में उसी अवसर पर पोप की जयन्ती भी थी, और इस कारण देश-विदेश के सभी बड़े-बड़े आदमी वहाँ एकत्रित हुए थे—बॉनेली, रोमा तथा मित्रगण सब वहां उपस्थित थे। यहाँ—"मिस जोशी के ऊँचे बरामदे में नगर के सभी बड़े-बड़े रईस, राज्याधिकारी तमाशा देखने के लिए बैठे हुए थे।" जिनमें मिस्टर जौहरी भी शामिल थे। परन्तु हमारी समझ में भारत के अंग्रेज गवर्नरों को भी शायद इतनी स्वतंत्रता नहीं है, और न यह उनके पद-सम्मान के उपयुक्त ही है कि वे अपनी प्रेमिकाओं के मकानों में स्वयं पहुँचते रहें। साथ ही इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण भीड़-भड़क्के का तमाशा देखना भी एक भारतीय गवर्नर के लिए बड़ी असामान्य बात है। हमें एक भारतीय प्रान्त के हिन्दुस्तानी गवर्नर होने की कल्पना में भी आपत्ति है। कल्पना सामान्य बातों में हस्तक्षेप करने में स्वतन्त्र है, परन्तु वह इतिहास के स्थूल सत्यों का उल्लंघन नहीं कर सकती। हमने आज तक कोई ऐसा उपन्यास नहीं पढ़ा जिसमें इंगलैंड के बादशाह मुहम्मद इस्माइल अमेरिका के प्रेज़िडेण्ट मिस्टर कुबेरराय या मध्यकालीन भारत के सम्राट् राजवर्मा के राज्यकाल की कथा कही गई हो।

पीड़ित जनता और तमाशाई बड़े लोगों के इन दो विरोधी दृश्यों को हृदयंगत करने की हमारी चेष्टा को वक्ता महोदय के आगमन से निवृत्ति मिलती है। आप्टे मंच पर आए। उनकी आयु तीस-पैंतीस वर्ष से अधिक न थी। लगभग इतनी ही आयु डेविड रॉसी की भी थी। आप्टे ने मंच पर खड़े होकर पहले जनता को शान्तचित्त रहने और अहिंसाव्रत पालन करने का आदेश किया। पहले या पीछे, रॉसी ने भी यही आदेश दिया था—

"Brothers" he said, "Let no blood be shed for my shake......" (इ० सि०, पृष्ठ ५६)।

फिर व्याख्यान शुरू हुआ—"इधर तो हमारे भाई दाने-दाने को मुहताज

हो रहे हैं, उधर नाज पर कर लगाया जा रहा है, केवल इसलिए कि राज-कर्मचारियों के हलवे-पूरी में कमी न हो।" उस तरफ रौंसी कह रहा है...

"Yet Government tax our bread so as to multiply God's gift, and give to the few the soil of the earth which belongs to all." (इ० सि०, पृष्ठ ४५)

आगे चलकर आप्टे कहते हैं—"आज हम उच्च स्वर से कह देना चाहते हैं कि हम यह क्रूर और कुटिल व्यवहार नहीं सह सकते। यह हमारे लिए असह्य है...हमारे घरों में चूल्हे न जलें, और कर्मचारी लोग थियेटरों में ऐश करें, नाच-रंग की महफ़िलें सजावें, दावतें उड़ावें, वेश्याओं पर कंचन की वर्षा करें। संसार में ऐसा कौन देश होगा जहाँ प्रजा तो भूखों मरती हो और प्रधान कर्मचारी अपनी प्रेम-क्रीड़ाओं में मग्न हों, जहाँ स्त्रियाँ गलियों में ठोकरें खाती फिरती हों, और अध्यापिकाओं का वेश धारण करने वाली वेश्याएं आमोद-प्रमोद के नशे में चूर हों...।" उधर गलियों में ठोकरें खाती फिरने वाली स्त्रियों की दशा पर सदैव दुखी रहनेवाला रौंसी भी गवर्नमेंट और कर्मचारियों को इसी तरह फटकारता है।

"....And who in Rome cannot point to the ministers who allow their mistresses to meddle in public affairs and enrich themselves by the ruin of all around? ...Has Providence raised this country...only to fall a prey to an infamous traffic without a name between high officials of low desires and women whose reputations are long since lost? It is men and women like these who destroy their country for their own selfish ends. Very well, let them destroy her; but before they do so, let them hear... ..the Government you are building on the whitened bones of the people shall be overthrown. (इ० सि० पृष्ठ ४६)

इसके बाद आप्टे और रौंसी गिरफ्तार कर लिये गए। एकान्त में मुलाकात होने पर मिस्टर जौहरी की मिस जोशी के साथ निम्न प्रकार से बातचीत होती है। हम अवतरणों के नीचे-नीचे ही उनके मूल सदृशांश

देते जायँगे। मिस्टर जोशी कहते हैं—"अच्छा बहुत दिनों के बाद पंजे में आये हो। राजद्रोह का मुकदमा चलाकर कम-से-कम दस साल के लिए अण्डमन भेजूंगा।"

"He shall be put on his trials"

"What for ?

"Sedition.........The fellow has gone too far at last. He shall go to Santo Stephano."

"मिस जोशी—इससे क्या फ़ायदा ?"

"What good will that do ?"

"क्यों ! उसको अपने किये की सजा मिल जायगी।"

"He will be......crushed."

"लेकिन सोचिए, हमें उसका कितना मूल्य देना पड़ेगा। अभी जिस बात को गिने-गिनाए लोग जानते हैं, वह सारे संसार में फैलेगी···आप अखबारों के संवाददाताओं की ज़बान तो बन्द नहीं कर सकते।"

"Benefit······It will be a double injury. The insult will be repeated in public again and again...... it will be discussed and dissected and telegraphed until......all Europe has heard of it."

"······मैं इससे भी सहज उपाय बता सकती हूँ। आप आप्टे को मेरे हाथों में छोड़ दीजिए... उसके आन्तरिक भावों और विचारों की थाह लेकर मैं आपके सामने रख दूँगी। मैं ऐसे प्रमाण खोज निकालना चाहती हूँ, जिनके उत्तर में उसे मुँह खोलने का साहस न हो, और संसार की सहानुभूति उसके बदले हमारे साथ हो। चारों तरफ से यही आवाज आये कि यह कपटी और धूर्त था...यह षड्यन्त्रकारियों का मुखिया है और मैं इसे सिद्ध कर देना चाहती हूँ।"

"Give the man to me, and I will show you to escape from this humiliating situation.........Take him in a serious conspiracy......you want to know ....what conspiracies......he is hatching, what secret societies he belongs to......Leave him to me

and within a month you will know......the inmost secrets of his soul......oh! for the day when I can trun the laugh against him as he has turned the laugh against me! At the top of his hopes, at the height of his ambitions, at the moment when he says to himself, 'It is done'--he shall fall."

"यह काम इतना आसान नहीं है जितना तुमने समझ रखा है। आप्टे राजनीति में बड़ा चतुर है।"

"But remember—the man is one of the incorruptible."

"ऐसा कोई पुरुष नहीं, जिस पर युवती अपनी मोहिनी न डाल सके।"

"I 've seen him." (इ० सि० पृष्ठ ५० से पृष्ठ ५२ तक)

इसके बाद मिस्टर जौहरी जो बातचीत करते हैं वह एक बहुत लद्धड़ दिमाग मनुष्य की-सी मालूम होती है। इटर्नल सिटी के कर्ता ने बेरन से वे बातें नहीं कहलाई हैं।

बातचीत समाप्त कर मिस्टर जौहरी चले जाते हैं। उस समय अकेले में मिस जोशी को ऐसा मालूम हुआ, मानो आप्टे मंच पर खड़ा बोल रहा है। उसका शान्त, सौम्य, विषादमय-स्वरूप उसकी आँखों में समाया हुआ था। प्रथम दर्शन में रोमा का हृदय डेविड की ओर कुछ आकर्षित हुआ था, परन्तु वह अधिक उपयुक्त संस्कारों और मन प्रगतियों का फल था।

प्रातःकाल मिस जोशी अपने भवन से निकली, उसने सड़क पर आकर एक तांगा कर लिया और आप्टे के घर की ओर चली, रोमा भी अपनी गाड़ी में न जाकर एक किराये की गाड़ी में ही गई थी।

आप्टे गरीबों के एक मुहल्ले में, एक लुहार के साथ, उसी के मकान में रहता था। आप्टे का कमरा बहुत ही सादा था और उसमें विशेष कोई सामान न था, इसी तरह रॉसी एक ग़रीब मनुष्य के साथ उसी के मकान में रहता था और उसके कमरे में भी कोई विशेष सामान न था। मिस जोशी और रोमा, दोनों ही अपने-अपने नायकों की सादगी देखकर दंग रह गई थीं। लुहार और ग़रीब दोनों के एक-एक पाँच-छः वर्ष का तेजस्वी लड़का था, जिसे उनके मेहमान (आप्टे और डेविड) बड़ा प्यार करते थे। इस लड़के का होना उप-

न्यास की घटनाओं के विकास में बड़ा सहायक होता है, परन्तु गल्प में वह बिल-कुल निरर्थक है। उसके बिना भी गल्प ज्यों की-त्यों रह सकती थी। आर्ट और डेविड रोशी पत्रों में लेख लिखकर जो कुछ कमाते थे, उसे अपने मकान वालों को दे देते थे।

रोशी के घर पहुँचकर जो दशा सोमा के हृदय की हुई थी, वही आर्ट के घर पहुँचकर मिस जोशी की भी हुई। मिस जोशी को अपने यहाँ देखकर आर्ट को अपनी ग़रीबी पर लज्जा आई; यद्यपि डेविड इस प्रकार लज्जित नहीं हुआ था और यही उसके ऊँचे चरित्र के अनुकूल था। मिस जोशी ने पहुँचते ही आर्ट को इस प्रकार सम्बोधित किया—"मैं बिना बुलाए आपके यहाँ आने के लिए क्षमा माँगती हूँ, किन्तु काम ऐसा जरूरी था कि मेरे आये बिना पूरा न हो सकता......।"

सोमा ने रोशी से कहा था—

"I am doing a very unusual thing in coming to see you, but you have forced me to it, and I am quite helpless (ई० सि० पृष्ठ ८६)

इसके पश्चात् दोनों ही व्याख्यान वाले आक्षेपों की शिकायत करती हैं—"मैं आपसे ज़ोर देकर कहती हूँ कि ये आक्षेप करके आपने मुझ पर घोर अत्याचार किया है। आप जैसे सहृदय, शीलवान्, विद्वान् आदमी से मुझे ऐसी आशा न थी। मैं अबला हूँ, मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। क्या आपको उचित था कि आप एक अबला पर मिथ्यारोपण करें, अगर मैं पुरुष होती तो आपसे duel खेलने का आग्रह करती। अबला हूँ, इसलिए आपकी सज्जनता को स्पर्श करना ही मेरे हाथ में है, आपने मुझ पर जो लांछन लगाए हैं वे सर्वथा निर्मूल हैं।" इसी भांति—

"If I were a man, I suppose I should challenge you. Being a woman, I can only come to you and tell you that you are wrong......cruelly, terribly, shame fully......wrong. Even your enemies speak of you as a just man. You are known everywhere as defender of woman. Shall it be said that in your own person you have made an inncent woman suffer?" [इ० सि० पृ० ८६]

यहाँ एक बात यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि भारत में न तो duel खेला जाता है और न वह क़ानूनन जायज़ ही है। मिस जोशी उसका कैसे ख़्याल कर सकी, यह समझ में आना कठिन है।

शिकायत सुनकर आप्टे प्रायश्चित्त करने का वचन देता है। उसी सिलसिले में यह भी कह जाता है कि—"मैंने अपनी माता का मुख नहीं देखा, यह भी नहीं जानता कि मेरा पिता कौन था, किन्तु जिस देवी के दयावृत्त की छाया में मेरा पालन-पोषण हुआ..." इत्यादि, हम देखते हैं, डेविड ने भी अपनी माता का मुख नहीं देखा था, और न वह अपने पिता को ही जानता था। आप्टे की भाँति वह भी एक दूसरे के दयावृत्त की छाया में तेरह वर्ष तक पला था, (इ० सि०, पृ० ६२)। आप्टे और डेविड राँसी अपने प्रायश्चित्त की भावना में अपनी परम गोपनीय बातें तक कह डालते हैं। अपने आश्रयदाता के मर जाने पर दोनों इधर-उधर छिपे-छिपे फिरे, और उन्होंने कितने ही अपकृष्ट दासकर्म तक किए—घोड़े की साइसी की, एक होटल में बरतन माँजे, इत्यादि (इ० सि०, पृ० १४६) एक और बड़ा रहस्य है। यहाँ आप्टे पर चोरी के और वहाँ राँसी पर राजद्रोह के अभियोग में वारंट जारी थे। जिनके कारण दोनों अपना-अपना नाम बदलकर फिरते थे। पर प्रायश्चित्त के उत्साह में दोनों अपना असली नाम तक बतला देते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि उनके इस तादात्म्य से लाभ उठाकर उनसे बदला लिया जाय तो वे क्या करें, तो दोनों कहते हैं, "हमें इस विश्वास-घात की आशंका नहीं है....ऐसा बदला नहीं लिया जा सकता" (इ० सि०, पृ० ६४-६५)।

बदला लेने और पकड़ा देने आदि की बात सुनकर आप्टे के सहवासी का लड़का अपना डंडा उठाकर वीरोचित भाव से उसके पास आकर खड़ा हो गया। डेविड के साथी का लड़का भी उसका ऐसा ही मित्र था, उसके पास भी एक इसी प्रकार का डंडा था, और उसके खड़े होने का भाव भी ऐसा ही वीरोचित था।

आप्टे के यहाँ करुणा और स्नेह के इन विपर्ययों का अनुभव करके मिस जोशी को भी कुछ पश्चात्ताप होता है, वह भी अपनी दुःशीलता का निवेदन करती है, वह कहती है—"जिसका हृदय इतना पवित्र, इतना निष्कपट, इतना सदय हो, वह मनुष्य नहीं देवता है। भगवन्, आपने मुझ पर जो आक्षेप किए, वे सत्य हैं। मैं आपके अनुमान से कहीं अधिक भ्रष्ट हूँ...मुझ पर दया कीजिए।" रोमा भी कुछ इसी प्रकार के भाव प्रकट करती है.......

"I do not say that I am altogether without blame

I may have lived a thoughtless life amid scenes of poverty and sorrow......And perhaps if I had earlier met a man like you, my life might have been different." (इ० सि० पृष्ठ ६०-६१)

थोड़ी-बहुत देर और इसी प्रकार बातें होने के उपरान्त मिस जोशी अगले रोज़ आप्टे को अपने यहां आने का निमन्त्रण देकर विदा होती हैं। रोमा ने भी चलते समय डेविड को इसी भांति अपने यहां आने के लिए निमंत्रित किया था।

दूसरे दिन आप्टे मिस जोशी के यहां पहुँचते हैं। मिस जोशी के यहां इस समय मेहमान लोग जमा थे, रौसी भी रोमा के घर गया था; पर उस समय वहां कोई खास आदमी नहीं था। इसके बाद वह एक रोज रोमा के साथ थियेटर को गया था। मिस जोशी के मकान का दृश्य थियेटर के दृश्य से लिया गया है। जिस प्रकार थियेटर में रौसी सज-धजकर गया था उसी तरह आप्टे जिस समय वहां आए थे "वह पूरे फ़ैशनेबुल रईस बने हुए थे।" थियेटर में रौसी का मज़ाक बना था और लोगों ने उसकी तरफ़ उँगलियां उठाई थीं (इ० सि०, पृ० ११८) यहां मेहमानों ने आप्टे का मज़ाक उड़ाने की कोशिश की थी।

"सहसा मिस जोशी अपने सोने के कमरे में गई। उसने सजे हुए कमरे को घृणा के नेत्रों (दृष्टि) से देखा, अपने आभूषणों को पैर से ठुकरा दिया और एक मोटी साफ़ साड़ी पहनकर बाहर निकली।' समय आने पर परिस्थिति का उचित विकास होने के बाद रोमा ने भी अपनी तमाम विलास-सामग्रियों का त्याग कर दिया था।

अन्त समाप्ति का अवसर उपस्थित होता है, और मिस जोशी सब मेहमानों के सामने आप्टे के लिए अपने प्रेम और भक्ति की घोषणा करती है। रोमा ने भी इस रूप में नहीं, किन्तु उपन्यास की घटना-शृंखला के साथ-साथ चलकर अपने प्रेम की बात सब पर प्रकट कर दी है। मिस्टर जौहरी को मिस जोशी के इस प्रख्यापन से बड़ा सदमा पहुँचता है और वह साम-दाम-दंड-भेद से काम लेना चाहते हैं। मिस जोशी इस पर पिस्तौल लेकर खड़ी हो जाती है और उन्हें मारने की धमकी देती है। बानेली ने भी बहुत अर्से तक आशा-निराशा की डोरियों में झूलकर हर तरह के छल और कौशल से काम लिया। अन्त में उपन्यास में भी एक ऐसा अवसर आता है जब कि रोमा को बैरन के सामने पिस्तौल लेकर खड़ा

होना पड़ता है (देखिए इ० सि०, पृ० ५२६)। परन्तु "विश्वास" गवर्नर की क्षमा और उत्सर्ग के सा समाप्त होता है, और उपन्यास में ब्रैरन खिड़की से गिर पड़ने के कारण मर जाता है।

हाल केन का यह सौभाग्य था कि हिन्दी के उपन्यास-सम्राट ने उन्हें अपना महाजन बनाया, परन्तु हिन्दी का यह सौभाग्य है कि नहीं, इसका निर्णय मुन्शी प्रेमचन्द के 'विश्वास-मात्र' पर निर्भर रहने वाली हिन्दी जनता और प्रेमचन्द के प्रकाशक करेंगे। सम्भव है प्रेमचन्द जी ने कहीं किसी से जिक्र किया हो कि 'विश्वास' का जनक 'इटर्नल सिटी' है, परन्तु 'प्रेम-प्रमोद' के पढ़ने वाले उसे प्रेमचन्द के प्रतिभा-सागर से निकली हुई एक मुक्ता-मणि ही समझेंगे। जो मनुष्य अपने बाहुबल से ऐश्वर्यशाली बन सकता है उसे दूसरों से उधार लेकर अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करना शोभा नहीं देता। व्यक्तिगत हानि-लाभ का जिक्र छोड़िए। इससे हिन्दी-साहित्य की उन्नति को कितना धक्का लगता है ! प्रेमचन्द जी एक नामी लेखक हैं। उनकी कृतियाँ जैसी कुछ भी हों, उन्हें प्रकाशक लोग आँखें मूँदकर ले लेते हैं, परन्तु जो लोग इतने नामी नहीं हैं उनकी अच्छी-से-अच्छी चीज़ भी किसी उज्ज्वल भाग्य की आशा नहीं रख सकती। इसी "इटर्नल सिटी" के आधार पर गिरीश जी ने 'संदेह' नामक उपन्यास लिखा है, जो 'विश्वास' से कहीं अच्छा है। परन्तु उसे कितने लोग जानते हैं और गिरीश जी को उससे कितना प्रोत्साहन मिला है। श्रीयुत कृष्णदत्त पालीवाल ने भी 'इटर्नल सिटी' का अनुवाद किया है। उससे पालीवाल जी को कितना आर्थिक लाभ हुआ और प्रेमचन्द जी के ग्रन्थ के मुकाबले में उसका कितना प्रचार हुआ। त्रिवेणी के एक ही पुण्य-जल से दो मनुष्यों ने लोटा भरा है। एक लोटे के जल का आचमन करने के लिए भक्तगण दक्षिणाओं के ढेर लगा रहे हैं, परन्तु दूसरे लोटे का जल छलक-छलक कर ही नष्ट होता है। हम विशेष रूप से प्रेमचन्द जी को कुछ नहीं कहते। हिन्दी में और भी कितने ही लेखक आजकल ऐसा कर रहे हैं, परन्तु उनकी अपेक्षा प्रेमचन्द जी का उत्तरदायित्व बहुत ही बड़ा है। हम समझते हैं, प्रेमचन्द जी का कर्तव्य इस तरह की धींगा-धींगियों को निर्मूल और योग्य पुरुषों के प्रयत्नों को उत्साहित करना होना चाहिए। यदि प्रेमचन्द जी के उदाहरण से हिन्दी में अच्छे लेखकों का विकास हो, और हिन्दी साहित्य का भंडार बढ़े; तभी हम प्रेमचन्द जी के कृतज्ञ हो सकते हैं...उनके 'विश्वासों' पर भरोसा रख कर नहीं। इससे

उदीयमान लेखक निरुत्साहित हो जायंगे, और उन्हीं के पथ पर चलने के लिए प्रलुब्ध होंगे।

इस लेख को प्रकाशित करने से पहले 'सुधा'-सम्पादक ने इसे प्रेमचन्द जी के पास उनकी सम्मति के लिए भेजा था। उत्तर में प्रेमचन्द जी ने इसका प्रतिवाद भेजा था, जो 'सुधा'-सम्पादक ने लेख के साथ-ही-साथ छाप दिया था? यह प्रतिवाद पत्र के रूप में था। नकल नीचे दी जाती है—

"प्रिय दुलारेलाल जी,

हमारे मित्र पं० अवध उपाध्याय तो 'कायाकल्प' को 'इटर्नल सिटी' पर आधारित बता रहे हैं। मि० शिलीमुख ने उनको बहुत अच्छा जवाब दे दिया। मैं अभी सभी मित्रों से कह चुका हूँ कि 'विश्वास' केवल हाल केन के 'इटर्नल सिटी' के उस अंश की छाया है, जो वह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरे हृदय पर अंकित हो गया। मैंने पहले 'चांद' में यह कहानी लिखी थी। वहां से वह 'प्रेम-प्रमोद' में आई। मैंने प्रकाशक को अपने पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि यह कहानी 'इटर्नल सिटी' की विकृत छाया है। अपने प्रायः सभी मित्रों से कह चुका हूँ, छिपाने की जरूरत न थी, और न है। मेरे प्लॉट में 'इटर्नल सिटी' से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, इसलिए मैंने अपनी भूलों और कोताहियों को हाल केन जैसे संसार-प्रसिद्ध लेखक के गले मढ़ना उचित न समझा। अगर मेरी कहानी 'इटर्नल सिटी' का अनुवाद, रूपान्तर या संक्षेप होती, तो मैं बड़े गर्व से हाल केन को अपना प्रेरक स्वीकार करता। पर इटर्नल सिटी का प्लॉट मेरे मस्तिष्क मे आकर न जाने कितना विकृत हो गया है। ऐसी दशा में मेरे लिए हाल केन को कलंकित करना क्या श्रेयस्कर होता है।

'इटर्नल सिटी' प्रसिद्ध पुस्तक है। हिन्दी में उसका अनुवाद हो चुका है। अनुवाद हो चुकने के बाद मैंने कहानी लिखी है। श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल ने ही मुझसे इस पुस्तक की प्रशंसा की थी। अपना अनुवाद भी सुनाया था। उन्हीं से पुस्तक मांगकर मैं लाया था। ऐसी दशा में मोटी बुद्धि का आदमी भी समझ सकता है कि मैं विज्ञ संसार को धोखा देना नहीं चाहता था। जिस हद तक मैं ऋणी हूँ उस हद तक मैं लिख चुका। ऐसा कौन आदमी होगा जो हिन्दी में छपी हुई किताब से मिलती-जुलती कहानी लिखे और यह समझे कि वह मौलिक समझी जायगी। फिर भी मेरी कहानी में बहुत-कुछ अंश मेरा है, चाहे वह रेशम में टाट का जोड़ ही क्यों न हो। (इसके बाद कुछ लाइनें ऐसी थीं, जिनका इस प्रतिवाद से कुछ संबन्ध नहीं। सु०-सं०] —प्रेमचन्द।"

इस प्रतिवाद का प्रत्युत्तर मूल-लेखक की ओर से 'सुधा' की अगली संख्या में इस प्रकार निकला था ।

"विश्वास" और 'इटर्नल सिटी' की जो तुलना मैंने "सुधा" की गत संख्या में की है उसके उत्तर में प्रेमचन्द जी ने लिखा है कि वह "विश्वास" के आधार का उल्लेख अपने कुछ मित्रों तथा प्रकाशक से कह चुके थे। अपने विचार "सुधा" में प्रकाशित करके यदि हमने प्रेमचन्द जी को कष्ट पहुँचाया है तो हम उनसे क्षमा माँगते हैं। परन्तु हाँ, हमने उनकी कहानी को मौलिकता के आवरण में लिखी गई समझ कर कोई अपराध नहीं किया है। यदि दस हजार पाठक विश्वास को पढ़कर उसे मौलिक समझें तो कोई अपराध न करेंगे। उनके पास यह जानने का साधन नहीं है कि प्रेमचन्द जी ने उसे अपने मित्रों के समक्ष उसके आधार पर लिया हुआ स्वीकार कर लिया है ।

दूसरी बात यह है कि अपने मित्रों से कहकर प्रेमचन्दजी अपने उत्तर-दायित्व से मुक्त भी नहीं हुए हैं। वह केवल अपनी मित्र-मंडली के ही गल्प-लेखक नहीं हैं, बल्कि समस्त हिन्दी-जगत् के हैं। यदि हिन्दी-जगत् के सामने वह एक अनुवादित कहानी लेकर आते हैं, तो उन्हें उसे बतला देना चाहिए कि उनकी यह कहानी अनुवादित है।

एक तीसरी बात भी है। वह यह कि अपने मित्रों के सामने अपनी स्वीकृति उल्लेख करना प्रेमचन्दजी की बड़ी पोच दलील है। हिन्दी के पाठकों को अधिकार है कि वे इसे मानें या न मानें ।

"विश्वास" में कितना अंश प्रेमचन्दजी का अपना है और "विश्वास" 'इटर्नल सिटी' का अनुवाद या, रूपान्तर है, इसका अनुमान मेरे मूल लेख में "विश्वास" और" 'इटर्नल सिटी' की तुलना से यथेष्ट रूप में किया जा सकता है ।

★

: ७ :

प्रेमचन्दजी का कौशल

प्रेमचन्द जी की प्रख्यात लेखनी द्वारा अंकित की हुई 'कौशल' नाम की कहानी, जो 'प्रेम-प्रमोद' नामक गल्प-संग्रह में प्रकाशित हुई है, पढ़ने को हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। उससे कुछ ही समय पहले गाइदि मोपासाँ (Guyde Maupassant) की एक गल्प 'नेकलेस' (Necklace) तथा स्वामी सत्यदेवजी कृत 'आश्चर्यजनक घंटी' में उसका अनुवाद 'माला' भी हमने पढ़ा था। 'कौशल' को देखने के बाद पूर्व-स्मृति ने 'नेकलेस' और 'माला' को हमारे सामने उपस्थित किया। अपने संदेह की परीक्षा करने के लिए पहली दोनों कहानियों को हमने एक बार फिर पढ़ा। हमें निश्चय हो गया कि 'कौशल' का अवश्य उनसे कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम तुलना द्वारा अपने कथन को अधिक व्यक्त करने की चेष्टा करेंगे।

'नेकलेस' और 'कौशल' दोनों के लेखक एक हार के क़िस्से से आरम्भ करते हैं। 'नेकलेस' की स्त्री का पति किसी दफ्तर में एक साधारण क्लर्क था, उसकी पत्नी को ज़ेवर वग़ैरह का बहुत शौक था, परन्तु उसके साधन ऐसे नहीं थे कि वह अपनी पत्नी के शौक़ों को पूरा कर सकता। एक रोज किसी निमंत्रण में जाने के लिए क्लर्क-पत्नी अपनी पड़ोसिन से उसका हार मांग लाई। हार दुर्भाग्य-वश खो गया, और फिर उसे लौटाने के लिए दूसरा हार बनवाने की योजना में पति-पत्नी को बहुत काल तक घोर परिश्रम करना पड़ा। अन्त में दस वर्ष बाद दोनों पड़ोसियों की प्रसंगवश मुलाकात होने पर मालूम होता है कि हार नक़ली जवाहरात का था।

प्रेमचन्दजी की कहानी में यह भेद है कि यद्यपि इसमें भी हार दूसरी पड़ोसिन से मांगा गया था, और उसे लौटाने के लिए नया हार बनवाने में बूढ़े पंडित को महीनों अपनी जान खपानी पड़ी थी, परन्तु हार चोरी नहीं गया था, धूर्ता स्त्री ने चोरी जाने का बहाना करके कौशल द्वारा ग़रीब ब्राह्मण से अपना हार बनवाया था।

माया के पति पंडित बालकराम एक मन्दिर में पूजा करते थे। वह 'नेकलेस' के नायक से भी ग़रीब थे, परन्तु 'नेकलेस' फ्रांस की जीवनगति का एक चित्र है। वहाँ के आभूषणों में हार का प्रधान-स्थान है। एक सज्जन कहते थे कि 'कौशल' में कोई ऐसी असाधारण बात नहीं है कि प्रेमचन्द जी उसके लिए दूसरों के ऋणी समझे जायं। इसके लिए 'नेकलेस' में जो मलाई है, उसे छोड़कर प्रेमचन्दजी उसका मठा क्यों लेते। प्रेमचन्द जी ऐसा क्यों करते, या उन्होंने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर सिवा उनके और कौन दे सकता है ? इसमें तो सन्देह नहीं कि 'कौशल' में कोई असाधारण बात क्या, साधारण बात भी नहीं है। साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि 'नेकलेस' में अवश्य असाधारण बात है। यह भी स्वाभाविक बात है कि कभी-कभी कोई साधारण लेखक असाधारण लेखकों की असाधारणता से प्रलुब्ध हो जाते हैं, चाहे वे मूल की असाधारणता का नक़ल में भले ही निर्वाह न कर सकें।

बहरहाल, 'कौशल' का शरीर वही है जो 'नेकलेस' का। हाँ, आत्मा वह नहीं है। आत्मा के स्थान में इसमें कठपुतलियों में बोलनेवाली आवाज़ भरी गई है। 'कौशल' में उस खूबी का लेश भी नहीं है जो 'नेकलेस' में है। इस बात को उपर्युक्त सज्जन भी मानते हैं। कोई आदमी चोरी करेगा तो कीमती वस्तुओं पर ही हाथ मारेगा, न कि काठ-कबाड़ पर। वर्तमान प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा विश्वास इससे भिन्न है।

नामी लेखक यदि किसी दूसरे की कृति को अपनावेंगे तो इस प्रकार कि उससे उनके उधार लेने का भेद न खुले। यदि 'नेकलेस' की भाँति 'कौशल' में भी हार के चोरी जाने पर दश वर्ष की मुसीबत और तंगी के बाद यह पता चलता कि जिस हार का बदला चुकाने में इतना कष्ट सहा गया वह नकली था तो लोग फौरन कह उठते—'यह तो मोपासाँ की कहानी है।' इसमें शायद साँप भी न मरता और लाठी भी टूट जाती। इससे तो यही अच्छा होता कि 'नेकलेस' का अनुवाद ही कर दिया जाता। परन्तु अनुवाद से मौलिकता की कीर्ति को धक्का पहुंचता क्योंकि प्रेमचन्दजी ने आज तक शायद किसी भी दूसरी भाषा की छोटी कहानी का अनुवाद नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त कदाचित् एक बात यह भी हो कि 'नेकेलेस' की सहायता लेते-लेते प्रेमचन्दजी की कल्पना जागरित हुई हो और उन्होंने सोचा हो—'यदि वास्तविक चोरी ही दिखाई जाय तो......।' कोई लेखक अपनी कृति को, चाहे वह कैसी भी हो, बुरा नहीं समझता 'निज कवित्त केहि लाग न नीका।' प्रेमचन्दजी

ने सोचा हो कि यह परिवर्तन करने से शायद हम मोपासाँ से बाज़ी मार ले जाय और लोगों को आलोचना करने की भी गुंजाइश न रहे। तीसरी बात यह है और उसे कहते हुए हमें अधिक दुःख होता है कि सम्भव है प्रेमचन्दजी ने अपनी कल्पना के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ यह भी सोचा हो कि एक ढेले से दो पक्षी मरें तो अच्छा है। प्रेमचन्दजी से ब्राह्मणों को विद्वेप है, यह हमसे पहले प्रेमचन्दजी के और भी अनेक पाठक समय-समय पर दिखा चुके हैं। प्रेमचन्दजी के प्रत्येक ग्रन्थ में जहां कहीं ब्राह्मणों का ज़िक्र आया है वहाँ उन्हें उपहास्य और कुत्सित ही दिखाने की चेष्टा की गई है। 'कौशल' में भी एक घोंघा-वसन्त पंडित की घोंघा-वसन्ती और उसकी ब्राह्मणी की निर्लज्ज धूर्तता ही अधिक उत्कट और उज्ज्वल है। यदि चोरी झूठी न होती तो पंडितानी का चरित्र भी उतना ही ऊँचा होता जितना कि 'नेकलेस' की नायिका का। 'नेकलेस' की नायिका हार का मूल्य जुटाने के लिए अपने पति के साथ रात-दिन मेहनत करती है। उसने नौकर भी सब छुड़ा दिए हैं और अपनी असावधानी और भूल पर उसे हार्दिक कष्ट होता है। इधर पंडितानी शायद पलंग पर बैठी रहने, दोनों समय रोटी खाने—यदि दम्पति की आर्थिक दशा इस योग्य थी तो—और अपनी चालाकी पर खुश होती—रहने के सिवा और कुछ नहीं करती।

अस्तु, ऊपर हमने अपने केवल वे अनुमान दिए हैं जिनसे कदाचित् प्रेरित होकर प्रेमचन्दजी ने अन्त में ज़रा-सा परिवर्तन करके मोहनभोग को मांस की एक सूखी हड्डी बना डाला है, जो भक्तों के लिए जितनी निःसार है उतनी ही कठोर और अवांछनीय भी। अब हम यहाँ अपने इन अनुमानों का कारण देते हैं।

'कौशल' का ढाँचा ऐसा है कि वह पाश्चात्य अवस्थाओं के ही लिए अधिक उपयुक्त है, भारतीय वातावरण में उसे जमाने के लिए ज़रा खींच-तान करनी पड़ती है। ब्राह्मणी माया को हार की बहुत समय से लालसा थी। हमारी समझ में, पाश्चात्य जगत् में हार स्त्रियों का एक सर्वसामान्य और प्रधान आभूषण है। परन्तु भारत के साधारण स्त्री-समाज में हार का प्रचार अभी उतना नहीं हुआ है। हार एक आधुनिक फ़ैशन की वस्तु है जिसे या तो वे ही स्त्रियां, जो अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी होती हैं, या जिनके पति बहुत अंग्रेज़ीनुमा हो जाने के कारण हिन्दुस्तानी तर्ज़ों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, अथवा फिर वे ही जिन्हें ईश्वर ने रानी-महारानी बनाया है, धारण करने की इच्छा करती हैं। अन्य स्त्रियों को ज़ेवर से लदे रहने का शौक़ इनकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है। परन्तु उनके ज़ेवरों में पोंहची, कड़े आदि, या गले की चीजों में चम्पाकली, हँसली आदि का

परम्परागत आधिपत्य रहता है। हार की तो बहुत-सी स्त्रियाँ कल्पना भी नहीं करतीं; फिर मन्दिर के गरीब पुजारी की स्त्री हार भी बनवाती है तो बीस तोले, यानी छै सौ रुपये का। हम समझते हैं, पुजारीजी छै सौ रुपये कम-से-कम दो बरस में कमा पाते होंगे। यदि पण्डितानी में किसी रहस्यपूर्ण कारण से अंग्रेज़ियत ही आई गई थी तो बस एक लाकेट के लिए अपने पति से प्रार्थना कर सकती थी। लाकेट चार तोले ही में बन जाता। यदि हार ही बनवाया था तो हार के उपयुक्त दो एक पारसी साड़ियां, पाँच-छै ब्रूच (Brooch) और कोई, बढ़िया नहीं तो, साधारण केश-शृंगार (Hair toilet) तथा एक जोड़ी जूता भी मँगवाती। हम आशा नहीं कर सकते कि पण्डितानी के पास ये वस्तुएं पहले से होंगी। हम यह भी समझते हैं कि पण्डितानी को अपनी मैली-फटी धोती या झूठे काम के गोटे वाली काली या हरी टूल के लहंगे पर छै सौ रुपये का हार पहनते हुए स्वयं लज्जा आती। यदि परिवर्तन करते समय प्रेमचन्द जी हार का नाम बदलकर कोई साधारण आभूषण कर देते तो उनकी रचना अधिक भारतीय हो जाती और इन आक्षेपों से बच जाती।

हमको 'कौशल' के विरुद्ध एक आपत्ति और है। ब्राह्मण-ब्राह्मणी को चूल्हे में झोंकिए। यदि हम माया का, उसे भारतीय समझकर, अध्ययन करें तो किस परिणाम पर पहुँचते हैं? यदि कभी बाहर वालों ने हिन्दी पढ़ी तो वे हमारे सर्वश्रेष्ठ गपल्कार के ग्रन्थ अवश्य पढ़ेंगे। उस समय प्रेमचन्द जी के कौशल को देखकर उनकी हिन्दुस्तानियों के बारे में और विशेष रूप से हिन्दुस्तानी स्त्रियों के बारे में, क्या धारणा होगी? भारत के ही अन्य प्रान्तों के लोग हमारे यहाँ की स्त्री चरित्र को क्या समझेंगे। उन लोगों को शायद यह न मालूम न हो सकेगा कि प्रेमचन्द जी किन्हीं व्यक्तिगत भावनाओं से अपना चरित्र-चित्रण करते हैं। उस दशा में वे यही समझेंगे कि जिस जाति के प्रेमचन्द जी एक उज्ज्वल रत्न हैं उसकी स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं। साहित्य का लक्ष्य सदा समाज को उन्नत करना होता है। यहाँ अपने समाज में ही 'कौशल' कुव्यवस्था पैदा कर सकता है। कमसमझ स्त्रियाँ पण्डितानी के कौशल को अनुमोदन की दृष्टि से देख सकती हैं। 'कौशल' की पाठिकाएँ अपने पति को पंडित जी की तरह अपनी सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करते देख डरेंगी तो कि कहीं हमारे प्राणनाथ बीमार न पड़ जायें जो फिर लेने के देने पड़ें, परन्तु इतना समझकर भी वे उनसे अपना अपराध स्वीकार नहीं करेंगी, और न उनका कष्ट ही बंटावेंगी 'नेकलेस' को पढ़कर स्त्रियाँ वैसी भूल से बचने का प्रयत्न करेंगी, और यदि भूल हो जायगी तो उसको

सुधारने में अपने पति की सहायक होंगी। हम समझते हैं, अब प्रेमचन्द जी प्राच्य और पाश्चात्य के आदान-प्रदान की ओर बढ़ रहे हैं, और वह उनके जीवन-रूप को अंगीकार करके अपने आदर्श उन्हें दे डालना चाहते हैं।

'नेकलेस' और 'कौशल के सम्बन्ध में जो कुछ हमने कहा है वह केवल सहज भाव से कहा है। सम्भव है हमारी भूल ही हो। हम चाहते भी हैं कि भूल ही हो। परन्तु हम प्रेमचन्द जी के इस अभ्यस्त उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होंगे कि मानव-जीवन सर्वत्र एक-सा ही है; क्या यह सम्भव नहीं कि दो भिन्न मनुष्य किसी एक जीवन-दृश्य को दो भिन्न स्थानों में देखकर समान रूप से प्रभावित हों। हम और भी आगे बढ़ने को तैयार हैं; यदि एक जगह मनुष्य जल या Water माँगता है, तो दूसरी जगह वह पानी या आब माँगेगा। मनुष्य के मस्तिष्क की प्रगति भी एक-सी है। और उसकी भाषा भी एक-सी है, जो कुछ अन्तर है वह भाषा के बाह्य रूप में ही है। तब यदि अनातोले फ्रांस (Anatole France) ने Thais लिखा और प्रेमचन्द जी ने 'अहंकार' तो इनमें से दूसरी पुस्तक पहली का अनुवाद क्यों कही जाती है। जो शब्द मुझे सूझते हैं वही आपको भी सूझते हैं, जो शब्द-समूह मैं लिख सकता हूं वही आप भी लिख सकते हैं।' आप काश्मीर में बैठकर अपने मित्र से कहते हैं—'काश्मीर कितना सुन्दर है।' मैं यहाँ काश्मीर के चित्र को देखकर कहता हूँ—'काश्मीर कितना सुन्दर है।' तो क्या मैंने आपके वाक्य की चोरी कर ली? तार्किक भाषा में सब-कुछ सम्भव और क्षम्य हो सकता है, मैं किसी के ग्रंथ का शब्दशः अनुवाद करके भी उसे अपना बतला सकता हूँ। फिर, यदि मेरे लेख में कहीं कुछ परिवर्तन हो तब तो बात ही दूसरी है।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि कृती लेखक दूसरों की कृतियों से अनुरंजित ही नहीं होते, उनका अनुरंजित होना दूषित है। परन्तु इस प्रकार की अनुरंजना के सम्बन्ध में हमारे कुछ अपने विचार हैं। तार्किक सम्भावनाओं को स्वीकार करते हुए भी आम को आम या Mango कहना एक बात है, और उसके स्वाद को हृदयंगम करना दूसरी। यदि मैं बड़े शौक से आम खा रहा हूँ तो आप समझेंगे या तो आम बड़ी सुस्वादु वस्तु है, या उसका मेरे देश में अधिक रिवाज है। सम्भव है आप यह भी समझें कि मैं बड़ा बेसब्र आदमी हूँ। मुझे आम खाते देखकर आप सोचते हैं कि आपके देश में लोग तरबूज को भी ऐसे ही शौक या बेसब्रेपन से खाते हैं। इसी प्रकार के संसर्गी भावों associations का उत्पन्न होना मेरे आम खाने की आपके लिए अनुरंजना

और व्यंजना है। यदि हमने एक कहानी पढ़ी है तो उसकी व्यंजना हमारे लिए यही होनी चाहिए कि उसमें वर्णित जीवन का कोई परम चामत्कारिक और सूक्ष्म तत्व हमारी अध्ययन-वृत्ति और कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करे। नक्शे से हिमालय का चित्र देखकर कोई कवि हिमालय का अच्छा वर्णन नहीं कर सकता। उसे पहिले हिमालय जाना होगा, फिर संसार की अन्य पार्वत्य प्राकृति का निरीक्षण करना होगा, और तब अपनी कल्पना द्वारा उसे अपने वर्णन में स्वर्ग के पर्वतों की पवित्रता और सुन्दरता से हिमालय को विभूषित करना होगा। यदि वह इतना नहीं करेगा, तो हम समझते हैं, नक्शा बनाने वाला ही उससे अच्छा कवि है जो कम-से-कम हिमालय का बिलकुल सच्चा चित्र तो हमारे सामने रख देता है। नक्शा देकर पर्वतराज़ की लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन करने वाला व्यक्ति किस उपाधि का अधिकारी है, यह भूगोल शास्त्री बता सकते हैं, हम नहीं।*

*

*सुधा, वर्ष ३, खंड १, संख्या ४, पृष्ठ ४४५ से ४४८ तक।

: ८ :

प्रेमचन्द की समाज-भावना
और
उनका आदर्शवाद--उपदेशकवृत्ति

१ : समाज-भावना

उपन्यासकार के सम्बन्ध में एक अंग्रेज समालोचक और उपन्यास-लेखक का कहना है—

"The novelist is he who, having seen life and being so excited by it that he absolutely must transmit the vison to others, chooses narrative fiction as the liveliest vehicle for the relief of his feelings. He is like other artists..........only he differs from most artists in this that what most strikes him is the indefinable humanness of the human nature, the large general manner of existing."

उपन्यासकार साधारण जीवन की अनेकरूपता और मानव-स्वभाव की अद्भुत मानवता से ऐसा प्रभावित होता है कि उसे देखकर उसके हृदय में भावों की जो तरंगावली उठती है उसको रोकने में वह असमर्थ होता है, और उसके विश्राम के लिए वर्णनात्मक कथा के उल्लासकर मार्ग का आश्रय लेता है। उसका वर्ण्य विषय कोई एक मनुष्य या एक समाज नहीं होता। उपन्यास और जीवन चरित्र में यही अन्तर है। जीवन चरित्र व्यक्ति विशेष की कहानी होता है, उपन्यास व्यक्ति के बहाने समस्त मनुष्य-समाज की कहानी है। जीवन

चरित्र, इसलिए, भूत की ही कथा कहता है, उपन्यास की त्रिकाल-दृष्टि में भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों सन्निविष्ट रहते हैं।

प्रेमचन्द में किसी व्यापक मानव-समाज की कोई स्पष्ट भावना हम नहीं देखते—ऐसे समाज की जिसमें व्यक्ति और उपसमाज के भेदों के रहते हुए भी, किसी सामान्य सूत्र से बद्ध होकर एक देश और एक जाति के मनुष्य दूसरे देश और दूसरी जाति के मनुष्यों के साथ परस्पर व्यवहार एवं सहानुभूति करते हैं। नहीं प्रेमचन्द में हिन्दू समाज की, भारतीय समाज की, भी कोई ऐसी सामान्य भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। भारतीय समाज के भी दो-दो करके अनेक स्पष्ट भेद बना लिये गए हैं। ग्राम्य समाज और नागरिक समाज, आधुनिक सभ्य शिक्षित समाज और अशिक्षित समाज, हिन्दू-समाज और मुसलमान-समाज आदि। प्रायः समाज के इन द्वन्द्वों को मिलाने या उनमें सहानुभूति कराने का कोई प्रयत्न नहीं है; मानो एक-मात्र संघर्ष के लिए ही विधाता ने उनकी सृष्टि की हो। यदि नागरिक समाज का व्यक्ति ग्राम्य समाज से सहानुभूति रखेगा तो उसे भी ग्राम्य-समाज का ही बनना पड़ेगा। उसको अपने सामने आवश्यक रूप से कुछ ऐसे सिद्धान्तों को रखना पड़ेगा जिनका नागरिकों में आदर नहीं होता और यदि कोई व्यक्ति आदर करने वाला मिल भी जायगा तो बरबस नगर-जीवन को छोड़-कर उसे ग्रामीण बनना पड़ेगा। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर सामान्य नागरिक नहीं हैं। जो नागरिक उनसे सहानुभूति करने को प्रवृत्त होते हैं उन्हें भी प्रेमशंकर के ही ढंग का होना पड़ता है। ज्वालासिंह और इर्फानअली उस सहानुभूति की अवस्था के अधिकारी ही नहीं, जिसमें डिप्टी और वकील बनकर रहते हुए प्रेम-शंकर के हमदर्द और सहायक हो सकते। प्रेमचन्द उस अवस्था को शायद सम्भव नहीं समझते जिसमें नागरिक और ग्रामीण, हिन्दू-मुसलिम और ईसाई सब समान रूप से विलायती कपड़ा बेचते हुए और सरकारी नौकरी में अपने भाइयों का गला काटते हुए भी—महात्मा गाँधी के लिए भक्ति के उद्रेक से आह्लादित होते हैं और अवसर मिलने पर चारों तरफ से अपने कमरे को बन्द करके उनके चित्र के सामने सिर झुकाते हैं। यह हृदय की उदारता की कमी है। प्रेमचन्द का मनुष्य उस समय तक सहानुभूति के योग्य या आदरणीय है ही नहीं जब तक वह कुछ नियत सिद्धान्तों का पालन नहीं करता या स्वराज्य पक्ष को ग्रहण नहीं करता। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की दृष्टि बाहरी रूपों और क्रियाओं तक ही रहती है। वह हृदय की सबसे भीतरी तह तक पहुँचने में असमर्थ है। सूरदास की प्रतिमा खड़ी की जाती है और गिराई जाती है, परन्तु यहां भी हम इन

दोनों क्रियाओं के प्रेरक परम भिन्न दो पक्षों को ही देखते हैं। उन रहस्यों को नहीं जिनके द्वारा ये दो पक्ष भी एक दूसरे से मिले हुए हैं और साधारण मनुष्य समाज के अंग हैं। प्रेमचन्द उस ऑलिवर की कल्पना नहीं कर सकते जो मनसा वाचा कर्मणा ओरलैण्डो का सर्वनाश करना चाहता है, परन्तु जो फिर भी एकान्त में अपने हृदय के भीतर ओरलैण्डो के गुणों को सराहता है।

इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द के विधान में समाज केवल सिद्धान्तों का ही बना हुआ है। मनुष्य उसमें जैसे कुछ है ही नहीं, और यदि है तो बस सिद्धान्तों का पुतला-भर, जिसमें सिद्धान्तों के भेद से केवल भेद ही भेद उत्पन्न होते हैं—मनुष्य भी भिन्न हो जाते हैं। परन्तु प्रेमचन्द यह नहीं देखते कि इस भिन्नता का आधार क्या है और इसका स्वरूप क्या है। क्या यह भिन्नता एक व्यापक समानता की सापेक्ष नहीं है। यदि समानता न होगी तो भिन्नता भी नहीं रहेगी। जिस प्रकार घोर अन्धकार और उज्जवल प्रकाश के बीच में भी सन्धि की एक मध्यावस्था है उसी प्रकार समाज के विरोधों के बीच में भी है, जो स्थितियों को परस्पर मिला रहने देती है। दोपहर के बाद अन्धेरी मध्य रात्रि की सन्ध्या तभी होती है जब दोनों के अंशों को मैत्रीभाव से स्वीकार करने वाली सन्ध्या होती है। इसीलिए दिन और रात की, प्रकाश की और अन्धकार की, स्थिति बनी हुई है। ज़िमींदार ग्राम का स्वामी होने पर भी ग्रामीण समाज में सम्मिलित नहीं है। अतः उसमें नागरिकों की बुराइयाँ हैं—उत्कट रूप में हैं। ज़िमींदार असामियों पर अत्याचार करता है, उन्हें पीस डालना चाहता है पर फिर भी वह ज़िमींदार बना हुआ है। प्रेमशङ्कर कहते हैं वह अनावश्यक है, उसकी सत्ता नीति-विरुद्ध है, केवल असामी और सरकार को रहने का अधिकार है। पर, ज़िमींदार है तो क्यों है? कहा जाता है कि परम दरिद्र और दीन-हीन, चेष्टा-विहीन कीड़ा भी पैर से कुचला जाकर डंक मार देता है; बिल्ली मनुष्य से डरकर भागती है परन्तु मजबूर होकर वही मनुष्य के प्राण भी ले लेती है। विरोधों की पराकाष्ठा को पहुँचने पर एक पक्ष का अवश्य नाश हो जायगा—विरोध ही का नाश हो जायगा। अमरीका और अंग्रेज़ों में विरोध बढ़ा तो अमरीका स्वाधीन हो गया और वह अब अंग्रेज़ों का सहायक है। ज़िमींदार-संस्था भी तभी तक बनी हुई है जब तक घोर विरोध होने पर भी ज़िमींदार और असामियों का एक साथ क़ायम रखने वाली कुछ शक्तियाँ मौजूद हैं।

हृदय से प्रेरित स्वाभाविक सहानुभूति की शक्तियों के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्नेह, स्वार्थ अथवा धूर्तता की बाहरी शक्तियाँ भी हैं जो समाज को विशृंखल होने

से बचाती हैं। अतएव निन्दनीय होने पर भी उपन्यास-लेखक के लिए उनका कुछ महत्त्व है। 'काया-कल्प' के हिन्दू-मुसलमान, मालूम होता है, एक दूसरे को निगल जायँगे। 'काया-कल्प' की परिस्थितियों का आगे विकास और विस्तार होने पर ऐसा होगा भी अवश्य—या तो हिन्दू ही रहेंगे या मुसलमान ही। पर समाज में हिन्दू और मुसलमान सब-कुछ होने पर भी एक दूसरे से हँसते-मिलते हैं। साथ बैठकर खाते-पीते भी हैं, वक्त पड़ने पर एक दूसरे की सहायता भी करते हैं। ब्राह्मण इतने धूर्त, मूर्ख और उपहास्य हैं कि उन्हें शायद सतहे-ज़मीन से नेस्त-नाबूद हो जाना चाहिए तथापि वे भूमण्डल पर दस हज़ार वर्षों से बने हुए हैं। आपका भी यद्यपि उनसे स्वाभाविक द्वेष है; पर जब आप मिलते हैं तो गले लगकर उनको अपना मेहमान बनाते हैं, स्वयं उनके मेहमान बनते हैं—चाहे यह सब इसलिए हो कि आप उनकी मूर्खता से यथेच्छ लाभ उठा सकें।

विरोधों के बीच में उन तमाम शक्तियों पर दृष्टि रखना, जो उन विरोधों को कायम रखती हैं और उन्हें समाज के लिए उपयोगी बनाती हैं, एक परम सहानुभूतिपूर्ण कर्तव्य है। जो उन पर दृष्टि नहीं रखता वह मनुष्य और समाज के प्रति सहानुभूति से हीन है। उपन्यास का हृदय सहानुभूति से भरा हुआ, सरल, कोमल, विनोदशील, उत्तरदायित्वपूर्ण, उत्साही और न्यायानुवर्ती होना चाहिए। सर्वोपरि वह व्यावहारिक बुद्धि और विवेक से संयत हो।* प्रेमचन्द को समाज या समाज के किसी अंग से सहानुभूति नहीं है और न उनमें संयम ही है। असामियों से जो उनकी सहानुभूति-सी दिखलाई देती है वह भी इसीलिए कि उस समाज को वह नहीं चाहते। असामी जिस परिस्थिति में है उस परिस्थिति में उनसे सहानुभूति करना और उनके कष्टों को दूर करना प्रेमचन्द का उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य है यह कि असामी ही न रहे, ज़िमींदारी नष्ट हो जाय। अधिकारियों का अधिकार सर्वथा छिन जाय। 'तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बान लो हाथ' प्रेमचन्द नहीं सोचते कि इससे अधिक पुष्ट और वांछनीय

*"......the one other important attribute in the eqipment of the novelist......is the fineness of mind. His mind must be sympathetic quickly responsive, courageous, honest, humorous, tender, just, merciful. Above all his mind must be permeated and controlled by commonsense. His mind, in a word, must have the quality of being noble, "........Arnold Bernet : The Author's Craft.

अवस्था वह है जिसमें असामी ज़िमींदार और अधिकारी सब सुख के साथ एक दूसरे के सहायक बनकर रह सकें। वह शायद हमदर्द के उस आँसू के मूल्य को भी स्वीकार नहीं करते जो दुःखी को घोर-से-घोर कष्ट में परम सान्त्वना पहुँचाता है, तीव्र, कट्टर आलोचना के बिना उनका काम नहीं चल सकता। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि अत्याचार अथवा आधुनिक जीवन की बुराइयाँ स्पृहणीय हैं, परन्तु इतना हम समझते हैं कि उन सबके चिरन्तन अस्तित्व में मानवता के व्यापक सिद्धान्तों को ढूँढना और उनके आधार पर दुर्बल चरित्रों से भी सहानुभूति रखना—केवल इसलिए कि वे दुर्बल हैं—मानवता की सच्ची परख है, और यह परख कुशल चित्रकार में होनी चाहिए।

एक और बात भी है। सहानुभूति अपने बराबर के या अपने से छोटे व्यक्ति के साथ ही हो सकती है। अपने से बड़े के प्रति ससंभ्रम आदर का भाव रहता है, यदि एक व्यक्तिगत बात कहने के लिए क्षमा किया जाय तो हम कहेंगे कि प्रेमचन्द सूरदास नहीं हैं और न वह प्रेमशंकर ही हैं। अतएव इनके प्रति उनका आदरभाव ही हो सकता है। परन्तु उनकी स्वाभाविक सहानुभूति अपने या अपने से निम्न कोटि के लोगों के साथ ही हो सकती है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपक्ष में जाना सत्यता नहीं है; यह आत्म-प्रवंचना है। इसलिए प्रेमचन्द आदर्श व्यक्तियों या विपक्षी दलों के सच्चे संघर्ष को दिखाने में सफल नहीं हो पाते हैं। संसार के उपन्यास-लेखकों में टाल्स्टाय ऐसा हुआ है जिसके ऊपर उसके व्यक्तित्व और सिद्धान्तों के कारण लोगों की श्रद्धा है, परन्तु उसमें कट्टरपन का वह रूप नहीं है जो प्रेमचन्द में है, धनी या विलासी समाज की आलोचना में उसने हृदय की उदारता का जिस प्रकार निर्वाह किया है वह सुधारक श्रेणी के लेखकों के लिए उदाहरण बनने की वस्तु है।

प्रेमचन्द समाज-सुधारक श्रेणी के लेखक तो हैं ही। समाज-सुधार की प्रतिज्ञा के कारण भी स्वाभाविक रूप से उनकी समाज में कुछ संकीर्णता आ जाती है—वृहत् मनुष्य-समाज की भावना नहीं रहती है। लेखक उसी समाज को चुनता है जिसमें उसे बुराई दिखाई देती हैं। कोई उपन्यासकार मनुष्य-मात्र का सुधार करने का साहस नहीं कर सकता। बुरे समाज को चुनने में भी उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। बुराइयाँ किस समाज में नहीं हैं? और, प्रत्येक समाज में घोर-से-घोर दूषित बुराइयाँ हैं। लेखक अपने विषय के लिए वही समाज चुनेगा जो सबसे अधिक उसके निकट है; परन्तु प्रायः वह उस समाज को नहीं चुनता जिसमें वह स्वयं है। कारण, जिस प्रकार दूसरों की बुराइयों को क्षमा करने

में भारी उदारता की आवश्यकता है उसी प्रकार अपनी बुराइयों की निन्दा करने में भी है। जो समाज सुधारक श्रेणी के लेखक क्रोध की वृत्ति से लिखते हैं—और साधारण लेखक प्रायः इसी उद्देश्य अथवा स्वार्थ के उद्देश्य से लिखते हैं—उन में अपने व्यक्तित्व की चिन्ता रहना अवश्यम्भावी है। प्रायः समाज-सुधारक लोग अपने सम्बन्ध में पूछे जाने पर क्रोध से कहते सुने गए हैं—'लोगों को हमारे व्यक्तित्व से क्या मतलब।' अतः समाज-सुधारक का क्षेत्र अधिकांश अवस्थाओं में निःसन्देह बहुत ही संकुचित होता है। उसमें मानव जीवन की विचित्रता और अनेकरूपता पर दृष्टि नहीं जा पाती। उसे बहु प्रकार के जीवन से सहानुभूति नहीं हो पाती। उसे देख कर लेखक के हृदय में आनन्द की गुदगुदी नहीं उठती। वह चुन-चुन कर केवल यह देखता है कि बुरे से बुरे लोग किस तरह रह सकते हैं या आदर्श पुरुषों को किस प्रकार रहना चाहिए—आदर्श पुरुष किस प्रकार रहते हैं, यह नहीं। वह आदर्श की कल्पित पराकाष्ठा से बुराई की कल्पित पराकाष्ठा की तुलना करता है—मध्य मार्ग उसके लिए है ही नहीं। इसीलिए 'काया कल्प' में झूठी कल्पना की गई है कि वैर-परायण हिन्दू जाति ब्रह्मण्य ढोंग की किस नीच पराकाष्ठा को पहुंची हुई है। परन्तु लेखक यह नहीं जानता, अथवा जानना नहीं चाहता कि अधिकांश संसार दो पराकाष्ठाओं के बीच का ही जीवन व्यतीत करता है और इसी मध्य पथ के कारण संसार की स्थिति बनी हुई है। संसार न कभी एकदम बुरा ही हुआ है और न कभी एकदम अच्छा ही। और न होगा।

कवि या उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह मानवता के बीच में खड़ा होकर अपने चारों तरफ देखे और फिर मनुष्य की भांति उसकी अवस्थाओं का पर्यालोचन करके उसके सुख-दुःख और पाप-पुण्य में अपने सुख-दुःख और पाप-पुण्य को मिला कर उसके शोक-भार को कम करता हुआ उसे समाश्वासन दे। पाप और कष्ट से दबे हुए व्यक्ति को हँसा देना भी एक निपुणता है, अहसान है। यह तभी होगा जब लेखक स्वयं भी मनुष्य बने। वर्ड्सवर्थ ने एक स्थान पर लिखा है—

"The Poet writes under one restriction only, namely the necessity of giving immediate pleasure to a human being, possessed of that information which may be expected from him not as a lawyer, a physician, a mariner, an astronomer, or a natural philosopher but as a man." अर्थात—

कवि के लिए केवल एक नियम है वह सद्यःपरनिवृत्ति का पहुँचाने वाला हो, तत्काल आनन्द का देने वाला हो मनुष्य की हैसियत से, वैद्य अथवा तत्व-ज्ञानी की हैसियत से नहीं।

२. आदर्शवाद—उपदेश-वृत्ति

आदर्श काल्पनिक वस्तु है और परोक्ष है। जीवन वर्तमान है और स्पष्ट है। परोक्ष आदर्श की कल्पना उच्च और दुरूह है, परन्तु वर्तमान मधुर और सुखद है। वर्तमान जीवन की मधुरता और स्पष्टता उच्च परोक्ष में नहीं आ सकती। एक सज्जन अपनी कहानी सुनाया करते हैं, छोटे पन में उन्होंने एक बार अपने पिता का एक सिगरेट चुराकर सुलगाया। पिता ने देख लिया और डाट-डपट के उपरान्त सिगरेट न पीने के आदर्श पर कुछ कहा। परन्तु पुत्र के लिए वह आदर्श दुर्बोध था। उसने कहा —'यह कैसे हो सकता है? सिगरेट तो सब कोई पीते हैं—आप स्वयं भी पीते हैं।'

इस कहानी को लिखने का अभिप्राय केवल आदर्श और वस्तुस्थिति की तुलना से है। लेखक तो न पिता की हैसियत से लिख सकता है और न वह सिगरेट पीने का समर्थन कर सकता है। अब एक कहानी और है, एक अन्य सज्जन को भी सिगरेट का दुर्व्यसन था। परन्तु ऐसा मालूम होता है हिन्दू पत्नियाँ अपने पतियों का सिगरेट पीना शायद पसन्द नहीं करतीं। उनकी पत्नी ने जब देखा कि इनका सिगरेट छूटना असम्भव-प्राय है तो उन्होंने प्रेरणा करके पति से एक हुक्का मंगवाया और फिर बँधे अवसरों पर बड़े प्रेम से अपने हाथ से हुक्का भर कर पिलाने लगीं। सिगरेट पीना बहुत कम हो गया।

यदि व्यक्तिगत वैमनस्यों की बात छोड़ दें तो यह कहना आदर्श मालूम होगा कि मनुष्य-मात्र मनुष्य-मात्र का हितैषी है। यदि ऐसा न होता तो धर्म, नीति और आचार तथा समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि के ग्रंथ कभी देखने में न आते। हितैषिता का स्वाभाविक धर्म है कि वह कायिक, मानसिक और नैतिक उन्नति की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करती है। प्रत्येक हितैषिता किसी न किसी रूप में उपदेश करती रहती है। पत्नी भी व्यक्ति की उतनी ही हितैषिणी है जितना हितैषी उसका पिता और धर्माचार्य। परन्तु एक कान मलता है और एक मुस्करा कर प्यार से बातें करता है, यदि किसी के दुर्भाग्य से उसकी पत्नी भी कान मलने लगे तो, ईश्वर ही जाने, उसकी हितैषिता और आदर्शवांछा का क्या फल होगा।

कवि भी मानवता का स्वाभाविक हितैषी है वह भी मनुष्य को ऊँचा उठाना चाहता है, वह भी उपदेश करता है; परन्तु आचार्य के रूप में नहीं। वह जानता है कि तीखी बातों से मीठी बातों का प्रभाव अधिक पड़ता है, इसीलिए उसने काव्य के माध्यम को अंगीकार किया है, काव्य का सबसे प्रथम और सबसे आवश्यक गुण मन बहलाव (entertainment) है। इसी के द्वारा कवि अपने तमाम उद्देश्यों को पूरा करता है। काव्य के विषय में कहा गया है—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

काव्य सद्यःपरनिर्वृति का दाता है और उसके द्वारा अथवा उसके हेतु से कान्ता सम्मितता उपदेश करता है। हमसे हँस-हँस कर सात्विक प्रेम की बातें करो, हमारा मन अपने रंग में रंग लो, और फिर धीरे-धीरे सिगरेट पीना छुड़ा दो, तुम्हें एक बार भी यह कहने की आवश्यकता नहीं 'सिगरेट पीना छोड़ दो, नहीं तो फेफड़े गल जायंगे और राजयक्ष्मा से मर जाओगे।'

कवि और काव्य इसी प्रकार प्रतीति और प्रोत्साहन द्वारा दो परिस्थितियों के बीच का मार्ग ग्रहण कर जन-समाज को नीचे से ऊपर को उठाने का प्रयत्न करता है। प्रेमचन्द की दृष्टि मध्यम मार्ग पर नहीं जाती। वह केवल परिस्थितियों को ही देखते हैं, परिस्थितियों को देखना बड़ा आसान है, उपन्यास कहानी में भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों की मीमांसा करते हुए वह 'प्रेम-प्रसून' की भूमिका में लिखते हैं—"क्योंकि (Realist) अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता। बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है यथार्थ का रूप दिखाने से फायदा ही क्या है तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हां, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जा पड़े।" प्रेमचन्द के अनुसार कहानी के तीन गुणों में सबसे पहला गुण यही है कि उसमें कोई आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश हो।

मालूम नहीं प्रेमचन्द का भारत के प्राचीन साहित्य से कितना परिचय है। ईसा के पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर अब से तीन सौ वर्ष पहले तक असंख्य काव्य, नाटक तथा गद्य-कथाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। उपान्यास, गल्प, नाटक, चम्पू, पद्य-बद्ध-कथा आदि सब कहानी के ही रूपान्तर हैं। यदि विद्वानों की यह बात सर्वथा स्वीकार न हो तो भारतीय साहित्य के तीन सर्वप्रधान गद्य-कथानकों में वासवदत्ता, दशकुमारचरित और कादम्बरी को ही देख सकते हैं। परन्तु सुबन्धु, दंडी और बाण 'आदर्श', 'धर्म', 'सत्य' आदि शब्दों के जंजाल में कभी इतने नहीं पड़े जितने प्रेमचन्द पड़े हुए हैं, आठवीं शताब्दी की जो कारिका ऊपर उद्धृत की गई है उससे भी प्रेमचन्द के कथन का समर्थन नहीं होता।

प्रेमचन्द में यह तमाम विवाद इसीलिए है कि उनकी Realism की भावना, मालूम होती है, बहुत संकीर्ण है। यथार्थवाद का मतलब वह शायद नहीं समझते हैं जो आजकल के 'घासलेटिए' समझते हैं। बुरे चित्रों का चित्रण ही साहित्य का यथार्थवाद है, यह एक बिलकुल नई भावना है। दूसरी बात यह मालूम होती है कि प्रेमचन्द के मन में Realism वैसा ही मूक, चेष्टा-विहीन चित्रण है, जैसा कि फ़ोटोग्राफ़ी। तब क्या प्रेमचन्द साहित्य की व्यंजना-शक्ति को भी नहीं मानते, जिसके बिना कोई साहित्य सत्साहित्य नहीं कहला सकता। परन्तु नहीं, प्रेमचन्द 'फ़ोटोग्राफ़ी' शब्द के स्थान में 'दर्पण' शब्द का प्रयोग करते हैं। अब आदर्श और यथार्थ का सारा वज़न 'दीपक' और 'दर्पण' शब्दों में तुल जाता है। 'दीपक' का काम प्रकाश फैलाना है। उसके प्रकाश में आप दूसरों की भलाई-बुराई दिखलाते हैं, स्वयं भी दूसरों ही की भलाई-बुराई देखते हैं। जिससे स्वयं देखने वालों की भलाई-बुराई दिखाई दे और सच्चे सुधार की सम्भावना हो—क्योंकि सुधारक लेखक तो सुधार ही करना चाहता है—वह काम दीपक का बाहरी प्रकाश नहीं कर सकता। आदर्श की उलझन में आदर्शवादी के चेहरे पर रात-भर में कितनी झुर्रियाँ पड़ गई हैं, यह दिन निकलने पर दीपक नहीं दिखलायगा, दर्पण ही दिखला सकता है।

परन्तु Realism न दर्पण है, न फ़ोटोग्राफ़ी। जहाँ सीधी-सादी बात सीधे-सादे शब्दों में समझी और समझाई जा सके वहाँ उपमानों का परिभ्रम नहीं उपस्थित करना चाहिए। Realism वास्तव में मन की वह सक्रिय प्रवृत्ति है जो जीवन के कटु और मधुर दृश्यों को सचाई और सरलता के साथ देखती है और अपनी सहानुभूति और गंभीरता के सहारे उनका तुलनामूलक समीकरण करके जीवन-सम्बन्धी उच्च और उदार भावनाओं की व्यंजना करती है, साहित्य

में जब हम Realism का जिक्र करते हैं तो हमारा अभिप्राय लेखक या लेखकों की इसी मानसिक वृत्ति से होता है।

परन्तु Realism का परामर्श और व्यवसाय एक कठिन काम है। प्रतिभाशाली लेखकों को छोड़कर दूसरों के हाथ में उसका दुरुपयोग ही होना सम्भव है, कभी तो चित्र नीरस हो जाते हैं और कभी वे एकदेशिक रह जाते हैं। दुर्भाग्य से टाल्स्टाय, ज़ोला और इब्सन-जैसे महा लेखकों तक की दृष्टि जीवन के एक ही, पाप-दुःख और कष्ट के, पहलू पर पड़ी जिससे उनके ग्रन्थों में घोर निराशा का वातावरण दिखाई देता है। Realism का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जीवन की पूर्णांगता के भाव को सामने रखे। और, इस समय आदर्श (Idealism) उसका सहायक हो सकता है।

प्रकृति लेखक के हाथों में, यदि देखा जाय तो, वस्तुवृत्ति की भाँति आदर्शवृत्ति का भी दुरुपयोग हो सकता है। जिस प्रकार निराशापूर्ण वस्तुवादी केवल दुःख और पाप के दृश्यों को ही देखता है, उसी प्रकार आदर्शवादी भी। एक अमरीकन लेखक का कथन है कि आदर्शवृत्ति द्वारा विचित्रवादी (Romanticist) और वस्तुवादी, दोनों, के ग्रन्थ रञ्जित हो सकते हैं; क्योंकि आदर्शवाद कोई लेखन-प्रणाली नहीं है, इसको उपन्यास-वस्तु का एक वातावरण समझना ही ठीक होगा, वह लिखता है—"The influence of idealism in fiction should be recognised. It may tinge the work both of romnaticism and realism. It is perto be regarded as an atmosphere rather than as a method. The aim of idealism is to soften the hard realities of life......kept within due bonds, idealism gives a hopeful and Up lifting tone to fiction, but without careful restraint it is an danger of becoming false and injurious."

प्रेमचन्द का आदर्शवाद उनकी एक विशिष्ट प्रणाली है—देखने की, सोचने की और लिखने की, उनका आदर्शवाद भी वैसा ही निराशपूर्ण है जैसा कि एक अनुदार यथार्थवादी का यथार्थवाद हो सकता है। वास्तव में प्रेमचन्द के आदर्श के अनुसार बुरे को बुरा और भले को भला परिणाम मिलना चाहिए। परन्तु उनके चक्रधर, विनय, जाह्नवी और सूरदास अपना समस्त जीवन दुःख और

निराशा में ही बिताते हैं और परिणाम में कोई आत्महत्या करता है, कोई मारा जाता है और कोई संसार से अज्ञात रूप से लुप्त हो जाता है। उनके ब्राह्मण लाख प्रयत्न करने पर भी सुधरते नहीं, ज़िमींदार फिर भी अत्याचार किये जाते हैं। धूर्त लोग अन्त तक धूर्तता करते-फिरते ही अपने जीवन का अन्त करते हैं। यह सब क्या है? यही तो कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है, इस कूट-मूठ के बतंगड़ में प्रश्न उठता है वही पुराना कि—नाक किधर से पकड़ो।

प्रेमचन्द का आदर्शवाद वास्तव में एक पेशेवर का-सा आदर्शवाद है जो आदर्श के नाम-मात्र में अपना निर्वाण समझता है, इसीलिए इसमें हम उस स्वास्थ्यप्रद मानसिक विकास को नहीं देखते जिसमें इस घोर कलिकाल के दुष्फलों से दुखी होकर भी तुलसीदास का मुख-मण्डल आशा से खिल उठता था और वह कहते थे—

दीजै छाडि देखि नातो बलि मही मोद-मंडल-रितई है।

और फिर—

बिनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।

इसके लिए हृदय की शुद्धि भावना और सात्विक लगन की आवश्यकता है। तुलसीदास में यह बात थी। अन्यथा केवल बुराइयों पर झूँझला पड़ने से कोई फल नहीं निकलता। जिस लेखक से बुराई का सत्परामर्श नहीं आता उसके द्वारा बुराई का चित्रण होने से कुपरिणाम ही निकलता है। व्यभिचार से एक व्यक्ति को सावधान करने के लिए पहले उसे यह बतलाना भी तो आवश्यक है कि व्यभिचार क्या है और उसके क्या-क्या प्रलोभन हैं। फिर इसको कौन इन्कार कर सकता है कि बुरे आदमी और बुरे भाव की संगति भी बुरी होती है। 'काया-कल्प' की आलोचना में एक स्थान पर ज़िक्र किया गया है कि इसलिए छोटे बालकों को आरम्भ में धर्मग्रन्थ और रामायण आदि के ढंग की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, यदि सचमुच उपन्यास-लेखक धर्माचार्य ही बनाना चाहता है और इसी में अपनी कला का उत्कर्ष समझता है, जैसा कि कदाचित् प्रेमचन्द समझते हैं, तो बेशक वह उपन्यास के अन्य गुणों को भूल कर अपने पाठकों को छोटे बच्चों की भाँति—रामायण के ढंग पर नहीं, स्कूल-मास्टर की कमची लेकर—मार्ग-शासन कर सकता है। नहीं तो 'सेवा-सदन' -जैसे श्रेष्ठ उपन्यास में इस प्लेटफ़ार्म-स्पीच की क्या आवश्यकता है और इससे उपन्यास-पाठकों का कौन-सा हित-साधन होता है?

"शराब की दूकानों को हम बस्ती से दूर रखने का यत्न करते हैं, जूएख़ाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दूकानों को हम सुसज्जित कोठों पर चौक बाज़ार में ठाठ से सजाते हैं, यह पापोत्तेजना नहीं तो और क्या है ?

"बाज़ार की साधारण वस्तुओं में कितना आकर्षण है। हम उन पर लट्टू हो जाते हैं और कोई आवश्यकता न होने पर भी उन्हें ले लेते हैं। तब वह कौन-सा हृदय है जो रूप राशि-जैसे अमूल्य रत्न पर मर न मिटेगा। क्या हम इतना भी नहीं जानते ?

"विपक्षी कहता है यह व्यर्थ की शंका है, सहस्रों युवक नित्य शहरों में घूमते रहते हैं, किन्तु उनमें से बिरला ही कोई बिगड़ता है। वह मानव-पतन का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है। किन्तु उसे मालूम नहीं कि वायु की भाँति दुर्बलता भी एक अदृश्य वस्तु है जिसका ज्ञान उसके कर्म से ही हो सकता है। हम इतने निर्लज्ज इतने साहस-रहित क्यों हैं ? हममें आत्म-गौरव का इतना अभाव क्यों है ? हमारी निर्जीवता का क्या कारण है ? यह मानसिक दुर्बलता के लक्षण हैं।

"इसलिए आवश्यक है कि विषभरी नागिनों को आबादी से दूर, किसी पृथक स्थान में रखा जाय। तब उस निन्द्य स्थान की ओर सैर करने को जाते हुए हमें संकोच होगा। यदि वह आबादी से दूर हो और वहाँ घूमने के लिए किसी बहाने की गुंजाइश न हो तो ऐसे बहुत कम बेहया आदमी होंगे जो इस मीना बाज़ार में क़दम रखने का साहस कर सकें।"

प्रेमचन्द की ओर से इस प्रकार की टिप्पणियाँ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' के ढंग पर उनके उपन्यासों में प्रायः की गई हैं। समाज को विपक्षों में विच्छिन्न करके जिस कट्टरपन से उनकी आपस में मुठभेड़ कराई जाती है वह अलग है। इस उद्योग की प्रेरक, मालूम होता है, एक और प्रवृत्ति भी है। कुछ लोग समझा करते हैं कि श्रेष्ठ लेखक बनने के लिए समाज-सुधारक और रूढ़ियों के तीव्र आलोचक का बाना पहनना परम आवश्यक है। अभी हाल में एक महोदय ने अपने लेख में इस बात पर ध्यान दिलाया था कि हिन्दी में लगभग ऐसा कोई उपन्यास प्रकाशित नहीं होता जिसके नाम के साथ 'एक क्रान्तिकारी सामाजिक उपन्यास' का हरजाई विशेषण न लगा रहता हो।

परन्तु वास्तव में यह विचार भ्रमपूर्ण है कि सुधारकता-रूपी ऐयारी की झोली में वे सब करामातें हैं जो किसी लेखक का साधारण की श्रेणी से काया-पलट कर दे सकती हैं। क्योंकि, सुधार केवल एक बहाना है। संसार निःसन्देह

बहुत बुरा और पापपूर्ण है, परन्तु उसमें पुण्य और सौन्दर्य भी है, कभी-कभी उन्हीं बुराइयों तक में सौन्दर्य है जिनसे हम कुढ़ते हैं। भलाई और बुराई, दोनों बातें, साथ-साथ चलेंगी। जो बुराइयां आजकल हम देखते हैं वही सदा से लौट-लौट कर होती चली आई हैं। और फिर, जितने सुधार की इस संसार में आवश्यकता है वह सब यदि हो ही गया तो हमारा भूस्वर्ग निर्जीव, निरुद्योग, आनन्द विहीन हो जायगा। और, साधारण से ऊपर उठने वाले उपन्यास लेखक को फिर भी सुधार की आवश्यकता बनी ही रहेगी।

कहा जा चुका है कि श्रेष्ठ कवि या उपन्यासकार में जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के साथ सहानुभूति होना आवश्यक है। यह उसका सर्वप्रथम गुण होना चाहिए, वह आदर्श की कल्पना करे, पर उस कल्पना में यह न भूल-जाय कि हम ऐसे संसार में रहते हैं जो दुर्बल मानव-प्राणियों से बसा हुआ है, और यदि कवि या उपन्यास-लेखक देवता है तो मनुष्य उसकी दया और सहानुभूति का पात्र है। यदि दया और सहानुभूति को छोड़ कर वह दुर्दय और दुरुपचार आदर्शवाद का आश्रय लेता है, जिसमें स्वाभाविक रूप से तमाम वर्तमान जीवन-प्रणालियों को लांछित और तिरस्कृत किया जाता है, तो वह एक प्रकार से अपने पाठकों को ही लांछित और तिरस्कृत करता है। पाठक उस लेखक को अपना मित्र नहीं समझ सकता, क्योंकि वह स्वयं अपराधी समाजों में से किसी एक में सम्मिलित है और दूसरे मनुष्यों की भाँति स्वयं अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों से पूर्ण है। ऐसी अवस्था में पाठक के लिए उपन्यास या काव्य सभ्य गाली-गलौच का एक सैकड़ों द्वारों से खुलने वाला सुसज्जित पिटारा भर रह जाता है। डिकेन्स की लोकप्रियता में अब कमी हो चलने का कारण यही है कि उसमें यथार्थ का जो सत्य है, सामना करने का साहस न था और उसके जीवन पर्यवेक्षण में उस सुकुमारता और मृदुशीलता की कमी थी जो सच्ची सहानुभूति की उत्पादक है।

उपदेशक के रूप में लेखक को प्राकृतिक नियमों के सहयोग से काम करना चाहिए। वह उपदेश करे—आमोद और आनन्द के द्वारा—स्नेह और प्रसाद की प्रेरणा से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करके—कान्तासम्मित-तया—जिस प्रकार प्रकृति गंभीरता और मधुरता के साथ प्रीति का उत्पादन करके हृदय को द्रवीभूत कर, कोमलता की वृत्तियों को उत्तेजित देती हुई, रुचि और बुद्धि का विकास करती है। जिस समय वह उपदेश करना चाहता है उसको ध्यान रखना चाहिए कि—

"One impulse from the vernal wood
may teach you more of man
of moral evil and of good,
Than all the sages can."

और उसके देश में इसी 'impulse from the vernal wood' के प्रभाव को उत्पन्न करने का उसका प्रयास होना चाहिए।

संसार में जितने बड़े-बड़े उपन्यासकारों और कवियों के नाम आज तक मालूम हैं उनमें से शायद ही किसी ने कभी समाज-सुधार का प्रोफ़ेसर या उपदेशक बनने की चेष्टा की हो। किसी श्रेष्ठ उपन्यास के द्वारा पारिभाषिक ढंग का समाज-सुधार हुआ हो, अथवा मनुष्यों ने उससे नीति की स्कूली शिक्षा प्राप्त की हो, सा बात भी नहीं मालूम होती। मध्य कोटि के प्रचारार्थ उपन्यासों में भी शायद श्रीमती स्टो का Uncle Tom's Cabin ही ऐसा है जिसने समाज की किसी कुत्सित प्रथा का उन्मूलन करने में सफलता पाई है, परन्तु स्टो ने भी उपदेशक बनने का दावा नहीं किया था और न उसने अपने ग्रन्थों में लोगों को फटकारने की धृष्टता ही की थी। दूर की बातें तो दूर हैं। स्वयं प्रेमचन्द की उपन्यास कहानियाँ ही उनके सुधारकता और उपदेशकता के दावे के कारण भिन्न-भिन्न समाजो का कोई हित-साधन करने में सफल नहीं हो सकी हैं, हाँ, साम्प्रदायिकता के भावों को बढ़ाने में भले ही उन्होंने सहायता पहुँचाई हो।

दुर्भाग्य से एक अद्भुत संयोग के कारण प्रेमचन्द के उद्देश्य की निष्फलता और भी बढ़ जाती है। कुछ लोग तो शायद कहने लगें कि इस संयोग का उत्तरदायित्व प्रेमचन्द के ही ऊपर है। बहुत दिन नहीं हुए, "गोविन्द-भवन" का काण्ड भारतवर्ष में विख्यात हो चुका है। कृष्णोपासना, राधाकृष्ण का स्वांग, कृष्ण-लीला के रास आदि के ढोंगों द्वारा सीधी-सादी स्त्रियों की धार्मिक वृत्ति को जिस प्रकार अपवित्र किया गया था उसे सब जानते हैं। और सुनते हैं कि इस सब पापाचार के द्वारा ढोंगी का उद्देश्य भोली धनवती स्त्रियों का धन लूटना था। उसने धन लूटा भी खूब। जिन लोगों ने 'प्रेमाश्रम' पढ़ा है वे इस कांड में ज्ञानशंकर की स्कीमों की पुनरावृत्ति को देखेंगे। यदि 'गोविन्द-भवन' के धूर्त ने भी आरम्भ में 'प्रेमाश्रम' पढ़ा होगा तो कोई आश्चर्य नहीं है कि उसने ज्ञानशंकर के चरित्र से ही अपने क्रिया-कलाप की शिक्षा पाई हो, यदि शिक्षा नहीं पाई तो इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द ने एक त्रिकालदर्शी महात्मा की

: ६ :

गढ़ कुण्डार*

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' अब से अठारह-उन्नीस वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था और प्रकाशन के थोड़े समय बाद ही हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में उसकी गणना होने लगी थी, इस समय हिन्दी-उपन्यासों में उसे एक 'क्लासिक' की मर्यादा प्राप्त है।

'गढ़ कुण्डार' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। घटना-समय की बुन्देलखंड की राजनीतिक परिस्थिति और उनकी लौट-पलट का इस उपन्यास में सुन्दर वर्णन है। साथ ही, इस लौट-पलट की कथा में लेखक का लक्ष्य परिणाम-दर्शी है। उस समय की पारस्परिक ईर्ष्या, जाति और कुल के मिथ्या अहंकार, विशृङ्खल और विपर्यस्त राजशक्ति का असंयत दर्प और अनुचित प्रयोग आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो असन्तोष की वृद्धि करने वाले हैं और जिनके भीतर षड्यंत्र तथा विप्लव का बीज छिपा रहता है, और षड्यंत्र वास्तव में होता है, विप्लव भी होता है—द्रुतता के साथ, संक्षेप के साथ, चुप-चाप—ऐसा कि एक ही रात के भीतर कुण्डार राज्य अस्सी वर्ष से चली आती हुई एक शासन-प्रतिष्ठा को धूलिसात् करके दूसरे शासन के हाथों में जा पड़ता है।

'गढ़ कुण्डार' की रंगस्थली में बुन्देलखंड का एक बृहदंश कुण्डार राज्य की सीमाओं में अभिनिविष्ट है, कुण्डार के शासक खंगार जाति के थे और अपने को क्षत्रिय कहते थे, उनके बहुत-से सामन्त परिहार, चौहान, बुन्देले आदि थे, जो खंगारों के साथ खान-पान तक के विरोधी थे। ये सामन्त एक ओर तो पारस्परिक ईर्ष्या से जर्जरित थे और दूसरी ओर उनकी राजभक्ति विवशता-मात्र की वस्तु थी, वह अविकल न थी। इस तरह के सामन्तों में एक माहौना का ठाकुर भी था जो अपने को बहुत-कुछ स्वतंत्र मानता था। उधर कालपी में तुर्कों का प्रभुत्व था जो समूचे बुन्देलखंड पर अपना दाँत रखते थे और जिनसे समर्थित सैनिक राजपूतों की गढ़ीयों पर छोटे-मोटे छापे मारते रहते थे। परन्तु कुण्डार की दिल्ली के साथ

---

*लेखक के रेडियो-भाषण, ११ फरवरी, सन् १९४८, के आधार पर।

सन्धि होने के कारण कोई बड़े उपद्रव नहीं खड़े हो पाते थे। दिल्ली का बादशाह वृद्ध बलबन युद्ध के लिए बंगाल गया हुआ था, इस युद्ध में उसके मरने जीने पर कुण्डार की भावी स्थिति और राजनीति सन्तुलित हो रही थी।

उपन्यास की कथा का प्रारम्भ कुण्डार के राजकुमार नागदेव और उसके निकट मित्र अग्निदत्त पांडे की भरतपुरा-यात्रा से होता है, अग्निदत्त कुण्डार के बहु-सम्पन्न ब्राह्मण महाजन अन्नदत्त का पुत्र है, अन्नदत्त कुण्डार-महाराज हुरमतसिंह का भी महाजन है और दोनों के बीच घर का-सा व्यवहार है। अग्निदत्त की आयु सत्रह-अठारह वर्ष की है और महाराज के अन्तःपुर में उसका स्वच्छन्द प्रवेश है।

भरतपुरा की गढ़ी का अधिपति हरी चन्देल राज-भक्त है, वह दोनों अतिथियों का ससम्मान स्वागत करता है। गढ़ी में इस समय माहोनी ठाकुर का अन्याय-पीड़ित भाई सोहनपाल भी सपरिवार ठहरा हुआ है, जो अपना स्वत्व प्राप्त करने के लिए कुण्डार महाराज की सहायता का इच्छुक है। सोहनपाल के परिवार में उसकी कन्या हेमवती भी है जिसकी रूप-कीर्ति सुनकर नाग पहले से ही उसकी ओर आकृष्ट हो चुका है; परन्तु अग्निदत्त सोहनपाल के जातीय अभिमान की बाधा का संकेत करता है।

रात्रि में गढ़ी पर अचानक लुटेरों का आक्रमण हो जाता है, परन्तु नागदेव की जागरूकता से गढ़ी की रक्षा हो जाती है और लुटेरे दिन निकलने से पहले ही भाग जाते हैं। इस युद्ध के उत्तर भाग में नाग सोहनपाल के अन्तःपुर की रक्षा में व्यस्त रहता है और दो-एक बार हेमवती को देखता है। एक बार जब वह निःशस्त्र हो जाता है तो हेमवती अपने हाथ से उसकी कमर में तरकस बाँधती है, उसके मृदु कोमल कर-स्पर्श से नाग के सारे शरीर में रोमांच हो उठता है और तरकस बँध जाने पर वह धीरे से कहता है—'दया बनी रहे।'

नागदेव घायल हो गया है, अतः कुछ दिन उसे गढ़ी में ही रहना पड़ता है। इस बीच में वह एक प्रेमपत्र लिखकर हेमवती के पास ले जाने के लिए अर्जुन को देता है। अर्जुन गढ़ी के अधिपति चन्देल का स्वामी-भक्त सेवक है और वह उस पत्र को अपने स्वामी के पास ले जाता है। चन्देल भी स्वामीभक्त है और वह नाग के पत्र को अर्जुन के ही हाथ कुण्डार-महाराज के पास भेज देता है। साथ ही एक दूसरे पत्र में सोहनपाल का मन्तव्य भी लिख भेजता है। उधर नाग अपने पिता से सोहनपाल की सिफ़ारिश करने का वचन देकर, अपनी चोट

अच्छी हो जाने पर, उसके परिवार को अपने साथ कुण्डार ले जाता है। सोहनपाल किन्हीं कारणों से कुण्डार में न ठहरकर पास ही के एक गाँव में अपना अड्डा जमाता है। कुण्डार में सोहनपाल का परिवार अग्निदत्त के मकान के पास एक मकान में ठहराया जाता है। सोहनपाल के मित्र धीर प्रधान कायस्थ का पुत्र दिवाकर भी उसके साथ ही ठहरता है।

हरी चन्देल के संवाद के परिणाम में देखते हैं कि उस समय की विषम राजनीतिक परिस्थिति के कारण उद्धत सामन्तों को राज्य का पोषक बनाने के हेतु से नाग और हेमवती का विवाह महाराज हुरमतसिंह का अभीष्ट बन जाता है। इसमें कठिनाई यही हो सकती है कि कहीं बुन्देला अपनी कन्या को खंगार जाति में देने से इन्कार न कर दे। ऐसी अवस्था में इस सम्बन्ध को सोहनपाल की सहायता के लिए शर्त बनाया जा सकता है। पर यह सब करने के लिए समय और प्रतीक्षा की आवश्यकता है। प्रतीक्षा करनी है दिल्ली-बादशाह के जीवन-मरण और उससे उद्भूत नई परिस्थिति की। अतः हुरमतसिंह सोहनपाल को कोई निश्चित उत्तर न देकर कुछ समय तक उसे आशा में उलझाए रखने की नीति का आश्रय लेता है।

इस नीति के आचरण में जो कई महीने का समय मिलता है वही औपन्यासिक दृष्टि से सबसे अधिक घटनात्मक और परिणाममूलक है, यहाँ एक साथ तीन-तीन प्रेमकथाएँ प्रकाश और विकास को प्राप्त होती हैं। नाग की प्रेम-सिद्धि का भार तो अब हुरमतसिंह का कर्तव्य हो गया है, अतः इस प्रेम में नायक-नायिका का आचरण भी गौण हो जाता है। हम उन्हें केवल एक बार, पहली और अन्तिम बार के अतिरिक्त एक दूसरे से मिलते हुए भी नहीं देखते और न नाग को इस मिलन से पहले विशेषतया चिन्तित अथवा प्रयत्न करते हुए ही देखते हैं।

दूसरी प्रेम-कथा, जिसका इस समय गुल खिलता है, अग्निदत्त और नाग-भगिनी मानवती की है। हमें पता चला है कि अग्नि और मानो का प्रेम काफ़ी पहले से अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका है, ब्राह्मण-कुमार और खंगार-राजकुमारी के इस प्रणय में हम प्रेम की आवेगमयी उत्कंठा, उसकी प्रचंडता और साहसिकता के शुद्ध और पूर्ण रोमांटिक साहित्यिक रूप का दर्शन करते हैं। इस प्रणय-चर्या में गहरी भावुकता से लबालब अनेक मनोहर प्रसंग हमें देखने को प्राप्त होते हैं। भरतपुरा यात्रा के बाद दोनों की प्रथम भेंट का वर्णन इस प्रकार है—

'............अग्निदत्त का कन्धा मानवती के कन्धे से सटा हुआ था, सहसा मानवती की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। अग्निदत्त की भी आँखों में आँसू आ गए। मानवती ने कहा, क्या होगा? अन्त में क्या होगा अग्निदत्त?'

अग्निदत्त ने उत्तर दिया, 'मेरा बलिदान।'

'और मेरा क्या होगा?'

'तुम सुखी होओगी, कहीं की रानी बनोगी।'

'धिक्कार है तुमको, आगे ऐसी बात कभी मत कहना, सुविस्तृत संसार में हमारे-तुम्हारे दोनों के लिए बहुत स्थान है।'

तीसरी प्रेम-कथा अग्निदत्त पांडे की बहन तारा और धीर प्रधान के पुत्र दिवाकर की है, जो एक अप्रासंगिक प्रसंग के प्रस्ताव में प्रादुर्भूत होती है। अग्नदत्त अपनी पुत्री तारा के लिए उपयुक्त वर प्राप्त करने की वांछा में उससे एक लम्बा व्रत आरम्भ करवाता है, इस व्रत के अनुष्ठान के लिए तारा को दूर एक मन्दिर में प्रतिदिन जाना पड़ता है। और अग्निदत्त को पूजा के लिए कनेर के फूल उसके पास ले जाने होते हैं।

परन्तु कामदेव के घोर षड्यंत्र का शिकार बने होने के कारण अग्नि के लिए रोज़-रोज तारा के पास फूल ले जाना कठिन होता है और वह अपना कर्तव्य दिवाकर को सौंप देते हैं।

दिवाकर परम चरित्रवान् युवक है, अपनी मनोवृत्ति के बारे में सन्देह होने पर वह कहता है—'मैं अपने साथ कपट नहीं करूँगा, अवश्य मेरे जी में तारा के दर्शनों के लिए चाह है। पर क्यों? वह ब्राह्मण है, मैं कायस्थ......यह दुराचार है, दुःशीलता है। मन की यह मजाल! इतना दूर निकल गया!' बाद में, जब वह अपने हृदय के सामने पूर्णतः पराभूत हो जाता है तो वह तारा को अपने हृदय-सिंहासन पर एक देवी के रूप में आसीन कर केवल उसी रूप में उसकी आजीवन पूजा करते रहने का प्रण करता है।

इस कथा में प्रेम-प्रस्ताव और उसके आग्रह का सारा भार पुरुष के ऊपर न होकर स्त्री के ऊपर रहता है। तारा दिवाकर को पूजा के उपरान्त पुष्पमाला अर्पित करती है जिसमें उसने उसमें कहीं दो शब्द 'मेरे देव' अंकित कर दिए हैं। अनुष्ठान-पूर्ति के अवसर पर वह पुजारी की भर्त्सना कर ज़बरदस्ती दिवाकर को

मन्दिर के भीतर आने देती है और दिवाकर के घायल हो जाने पर अँधेरी रात में अकेली उसके पास पहुँचती है। और जब दिवाकर अपने पिता के कोप से भूगर्भ में कालकोठरी के भीतर डाल दिया जाता है तो तारा साहसिक बनकर यहाँ पहुँचती है और अपनी साड़ी की रस्सी बनाकर नग्न-प्राय अवस्था में दिवाकर से मिलती और उसे कैद से छुड़ाती है। तारा का यह प्रेम—प्रेम के आदर्श की पराकाष्ठा है। सामाजिक दृष्टिकोण से तथा स्त्री-सुलभ गुणों की दृष्टि से, बेशरमी और घोर अमर्यादा की भी पराकाष्ठा है। तारा का व्यक्तित्व उदात्त जीवन-भावना की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। तारा को देखते ही लेखक भी जैसे जीवन के जीवन में डूब जाता हो। तारा की रूप-आकृति, अनुभाव-चेष्टाएँ, उसके सात्विक भाव, उसकी वाणी इन सबके सामने होने पर 'गढ़ कुण्डार' का कवि-लेखक इतना विभोर-सा हो जाता है मानों तारा की प्रेम-पूजा की घटना स्वयं उसके अपने जीवन की घटना रही हो, पैरों की पैंजनी से हलकी मृदुल झंकार करती हुई तारा हँसकर भाग जाती है तो कवि को लगता है मानो बौरे हुए आम के पेड़ पर से बोलकर कोकिला धीरे से कहीं उड़ जाय। ग्रीवा को जरा मोड़कर विनम्र मुस्कराहट के साथ मृदुल स्वर में तारा के बोलने पर मालूम होता है जैसे थके हुए पथिक को शीतल पवन कोई संवाद सुना रहा हो। घाटियों के बीच में से तारा जब मैदान में निकल पड़ती है तो जान पड़ता है कि हिमालय के भीतर से गंगा की धारा का आविर्भाव हुआ हो। तारा एक देवी है—दुर्गा नहीं, ब्राह्म मुहूर्त की अधिष्ठात्री उषा, ऋषियों के होम का आशीर्वाद।

तारा-दिवाकर की कथा का यद्यपि औपन्यासिक वस्तु-विकास में कोई विशेष भाग नहीं है तथापि सुन्दरी के भाल-रोचन की भाँति वह मूल कथा की आकृति में ऐसे सहज और एकान्त रमणीय ढंग से बिठाई गई है कि उसकी पृथकता का आभास नहीं होता। वस्तु-विकास में मानवती-अग्निदत्त तथा हेमवती-नागदेव की कथाओं का और वस्तु-सिद्धि में केवल मानवती-अग्निदत्त की कथा का उत्तरदायित्व है।

भरतपुरा-यात्रा से लौटने के बाद तीन महीने पूरे होने आ रहे हैं और तारा का अनुष्ठान भी पूरा होने वाला है, इस बीच में मानो और अग्नि के प्रेम का रानी को पता लग जाता है और वह अति शीघ्र, आगामी अक्षय तृतीया तक, मानो का विवाह मन्त्रिपुत्र राजधर के साथ करा देने को उत्सुक होती है, अग्नि को रानी के सन्देह की बात मालूम हो जाती है।

उधर बंगाल में दलजन मारा गया है और हुरमतसिंह को मालूम होता है कि बुन्देला अपनी कन्या को उसके यहाँ नहीं देगा। अब तो; हेम यदि चाहे तो अक्षय तृतीया के दिन मानो-राजधर-वाले मंडप के नीचे ही उसका भी नाग के साथ चुप-चाप गांधर्व विवाह हो जाय, नाग हेम के पास जाता है, परन्तु फल विपरीत होता है। हेम नाग को दुत्कार देती है, इसके बाद मंडपोत्सव की रात को एक ओर तो मानवती के विवाह का उत्सव होता है; दूसरी ओर हेम का अपहरण करने के लिए उसके आवास पर आक्रमण होता है, जो विफल रहता है इसी समय अग्निदत्त भी छद्मवेश में महल में पहुँचकर मानवती को भगा ले जाने की चेष्टा करता है, परन्तु नाग द्वारा पकड़ा जाता है, नाग उसको लात मार कर कुठार से निकल जाने की आज्ञा देता है।

हेमवती दिवाकर आदि अपहरण-चेष्टा के बाद रातों-रात भाग निकलते हैं और अपने लोगों से आ मिलते हैं। यहां अभिमानी, अप्रसन्न अथवा दलित सामन्तों की गुप्त परन्तु निष्फल मंत्रणाएँ हुआ करती हैं। अग्निदत्त भी घूमता-फिरता उनके पास जा पहुँचता है। वह अपमान की ज्वाला से जल रहा है, चाणक्य की दुहाई देता है, और प्रतिकार के लिए दस लाख मुद्राओं की सहायता प्रदान करता है। चाणक्य की भांति उसका मस्तिष्क तेजी से काम कर रहा है।

पत्र भेजा जाता है कि सोहनपाल को नाग के साथ हेमवती का सम्बन्ध स्वीकार है, यदि उसे माहौनी के विरुद्ध सहायता दी जाय।

पूरी सतर्कता और जांच-पड़ताल के बाद हुरमतसिंह इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। विवाहोत्सव के लिए स्थान और दिवस निश्चित कर लिए जाते हैं, जहाँ दोनों ओर के सजातीय यथावसर इकट्ठे होते हैं। खंगार खूब शराब पीते हैं, इतनी कि बेसुध होने लगते हैं। उसी समय अग्निदत्त का षड्यन्त्र विजयी होता है। सबसे पहले अग्निदत्त ही प्रहार करता है और नागदेव के प्राण लेता है, इसके बाद जो संहार-क्रिया आरम्भ होती है उसमें उपन्यास के प्रमुख पात्रों में से सोहन-पाल और उसके पुत्र के अतिरिक्त कोई भी नहीं बचता। अन्यत्र, हाँ कालकोठरी से देवी तारा दिवाकर को निकाल रही है और दिवाकर योग-साधना का लक्ष्य निर्दिष्ट कर रहा है।

दिवाकर इस उपन्यास का देव पात्र है। प्रेम की पवित्रता, समाज-मर्यादा, शांति, मानव-प्रेम, अध्यात्म ज्ञान और आत्म बलिदान की भावना उसके चरित्र के अतुलभ गुण हैं। उससे कुछ उतरकर उसके पिता धीर प्रधान कायस्थ का चरित्र है

जो एक अवसर पर अपने शान्ति के उपासक पुत्र को स्वामिहित में बाधक समझ-कर उसकी गर्दन उड़ा देने तक को तैयार हो जाता है। अग्निदत्त पांडे इस उपन्यास का शठ-पात्र है, वह स्वामी-द्रोही, राज-द्रोही, देश-द्रोही और मित्र-द्रोही है और सोलह सत्रह वर्ष की आयु में ही उसने चाणक्य की पूर्ण कुटिलता को अपने में अवतीर्ण कर लिया है। सब प्रकार के चरित्रों में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता का लेखक ने पूरा निर्वाह किया है।

ऐतिहासिक नामों और उनके सम्बन्धों की बहुसंख्यकता के अतिरिक्त तीन-तीन प्रेम कथाओं के समावेश से गढ़ कुण्डार की कथावस्तु अति जटिल हो गई है, परंतु कुशल लेखक ने उसे उद्वेगकर नहीं होने दिया है, लेखक की रोमांस-वृत्ति बड़ी सूक्ष्म है, लोग भारत के रोमांटिस्ट लेखकों—बंकिम, आप्टे आदि—की तुलना वाल्टर स्काट से किया करते हैं, परन्तु स्काट में अद्भुत इसका कौतुक ही कौतुक है, वर्माजी की भावुकता नहीं। कल्पनाशील व्यक्ति में ही भावुकता का उन्मेष हो पाता है। वर्मा जी की काल्पनिक शक्ति वास्तविक में अद्भुत है। गढकुण्डर में अग्निदत्त और तारा-पांडे की सारी उपकथा काल्पनिक है। इस काल्पनिकता की एक महती सार्थकता यह भी है कि उसके द्वारा सामाजिक वर्णभेद के ऊँच-नीच की अमंगलकर विषमताओं पर प्रकाश पड़ता है। परन्तु वर्ण-समस्या का सुलझाव शायद लेखक को अभीष्ट नहीं है, इसलिए कथा के देव पात्र दिवाकर को पोषक-रक्षक बतलाया गया है। इसलिए शायद मर्यादा-हीन ब्राह्मण-कुमारी के उससे जा मिलने पर भी उनके मिलन के परिणाम को अनिर्दिष्ट रूप में ही छोड़ दिया गया है।

: १० :

हरिऔध के काव्य में विरह और करुण का रूप

'प्रिय प्रवास' की रचना के बाद ही हरिऔध करुण के कवि के रूप में हिन्दी में प्रतिष्ठित हो गए थे, और उक्त काव्य की परम्परा में ही उन्होंने अब से सात-आठ वर्ष पहले 'वैदेही-वनवास' की रचना की थी। उनकी स्फुट रचनाएँ अधिकतर मुशायरे के ढंग की चीजे हैं और वे हमारे विवेचनीय विषय की परम्परा में नहीं आतीं।

हरिऔध के काव्य पर एक सर्वांगीण दृष्टि डालते हुए यदि मैं उसी के भीतर करुण का निर्णय कर सकता तो शायद मैं अपने वक्तव्य के साथ अधिक न्याय कर पाता। परन्तु अवकाश की कमी के कारण मुझे भय है, मुझको कुछ संकेतो-मात्र से ही संतोष करना पड़ेगा।

मानव जीवन में अन्याय वृत्तियों की भाँति करुण वृत्ति का भी जीवन की पूर्णांगता के सम्पादन में अपना महत्व है, वस्तुतः कोई भी वृत्ति अपने में सम्पूर्ण (Absolute) नहीं है— करुण तो कदापि नहीं। प्रत्येक विशिष्ट वृत्ति दूसरी वृत्तियों के सहयोग-सहचर्य से ही अपनी पूर्णता को प्राप्त होकर जीवन की पूर्णांगता को निष्पन्न करती है। सहयोग-सहचर्य प्रदान करने वाली वृत्तियों को हम काव्य में 'संचारी' कहते है और सहयोग प्राप्त करने वाली वृत्ति को 'स्थायी भाव—स्थायी भाव के रूप में 'करुणा' का संबंध विरह से है। काव्य परम्परा में यह विरह नायक नायिका के आश्रय को लेकर ही अधिकतर गृहीत हुआ है—इसलिए कि करुण की अनुभूति पूर्णतः और एकांततः 'रति' के ऊपर अवलम्बित है, और रति के आवेग-आवेश का चरमस्थिति नायक-नायिका के आकर्षण में ही साधारणतया चरितार्थ होती है। रति और करुण कोमल वृत्तियां हैं, और स्त्री को चूँकि पुरुष की अपेक्षा अधिक कोमल हृदय वाली माना गया है इसलिए विरहानुभूति का भार-वहन करने की अधिकारिणी भी काव्य-परम्परा में वही विशेष रूप से बनाई गई है।

---

*रेडियो-भाषण, दिल्ली, २६ दिसम्बर, १९४७।

परम्परा की दृष्टि से हरिऔध के पास राधा और वैदेही हैं, और भाव की मार्मिकता के नाते, 'प्रिय प्रवास' में, राधा का अपना दिल है। 'वैदेह-वनवास' की बात मैं बाद में कहूँगा। आपने यदि 'प्रिय प्रवास' या उसकी आलोचना को पढ़ा है तो आप हरिऔध की सरस करुण कोमल मार्मिक भावुकता से अवश्य परिचित होंगे। 'मैं हूँ' मेरा हृदयतल है, औ' व्यथा हैं अनेकों, अथवा 'छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का'—जैसी उक्तियाँ किसी अभावुक हृदय से नहीं निकल सकतीं। उद्धव की प्रबोधना के उत्तर में गोपियों की दशा के इस वर्णन को देखिये—

सूखे न्यारा सलिल सरि का दग्ध हों कुञ्ज पुंजें
फूटें आँखें, हृदयतल की ध्वंस हो गोपियों का,
सारा वृन्दा-विपिन उजड़े, नीप निर्मूल होवें,
तो भूलेंगे प्रथित गुण के पुण्य पाथोधि माधो।

उधर राधा अपनी निराशामयी वासना-लालसा के साथ-साथ अपने उत्सर्ग की धृति का इस प्रकार परिचय दे रही है—

प्यारे आवें, सुयश्न कहें, प्यार से गोद लेवें,
ठंडे होवें नयन, दुख हों दूर, मैं मोद पाऊँ,
ए भी हैं भाव मम उर के, और ए भाव भी हैं
प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें॥ अस्तु

हृदय के भीतर किसी विशेष भाव का आवेग होने पर ही संचारियों की भी विशेष क्रीड़ा होती है तब इनसे एक प्रकार का मानसिक वातावरण-सा बन जाता है, जो फिर बाह्य वातावरण को भी अपने ही अनुरूप बना लेता है। काव्य में इस प्रकार का वातावरण उपस्थित करना पाठक की भाव-प्रवणता को उद्दीप्त करके उसकी मनोभूमि तदनुकूल तैयार करने में सहायक होता है। पर यह होता तब है जब कि काव्यकार स्वयं भी भावभूमि में गहरा पैठा हुआ हो।

प्रियप्रवास का वातावरण-चित्रण परम उत्कृष्ट है। संचारियों और अनुभावों की प्रचुर क्रीड़ा मानव व्यक्तियों में ही नहीं, प्रकृति तक में विलसित होती दीख पड़ती है। विरह और करुण का आधार रति है; इसलिए सबसे पहले, प्रथम सर्ग में हमें संभोगमूला रति का एक बड़ा ही उल्लसित वातावरण देखने को मिलता है। कृष्ण की रूप आकृति-चेष्टा आदि के मनोहारित्व को हम अपनी आँखों से देखते हैं—साथ ही देखते हैं मनोहारित्व के उस व्यापक प्रभाव को भी जिससे

छू के प्यारी कमलपग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगा के॥

पन्द्रहवें सर्ग में राधा अपनी अर्द्धोन्मत्तावस्था में वन के पुष्पों, पक्षियों आदि को संबोधित करती हुई कोयल से मथुरा जाकर अपना विरह-स्वर सुनाने के लिए कहती है। फिर उसको जाता देखकर पुनः कहती है—

परन्तु तू तो अब लौं उड़ी नहीं; प्रिये पिकी क्या मथुरा न जायगी ?
न जा, वहाँ है न पधारना भला, उलाहना है सुनना जहाँ मना॥

राधा नायिका है, इसलिए नायिकात्व के अपने कर्त्तव्य को उसे अन्त तक निभाना ही पड़ेगा। उसकी परिणति तो हम देखेंगे ही। दीर्घकालीन विरह में अपने को कायम रखने के लिये उसे धृति की सबसे अधिक आवश्यकता है, और आवश्यकता है कदाचित धृति के एक उपकरण के रूप में ही, अपने जीवन और समय को व्यापृत रखने की। ये दोनों ही तत्व उसको उसकी रति की गम्भीरता से ही मिल जाते हैं जिससे धृति का रूप अन्त में जाकर पुनः संयोग का सा हो जाता है। वह एक ओर तो प्रकृति के विविध पदार्थों में ही अपने प्रियतम की छवि देखने लगी है और दूसरी ओर उनके उद्देश्य को ही अपना भी उद्देश्य बनाकर पर सेवाव्रत की पथगामिनी बन गई। यद्यपि उसके इस विकास के क्रम-विवरण में कुछ मामूली त्रुटियाँ रह गई हैं, जिन्हें दिखाने का मेरे पास समय नहीं है, परन्तु उसकी यह परिणति बहुत सुन्दर है, विरह-वर्णन परम्परा में एक मौलिक उद्भावना है और विरहचर्या को महत्वशालिनी बनाने वाली है। 'प्रिय प्रवास' के आलोचक 'प्रिय प्रवास' की इस विशेषता और उसके कारुण्य की मार्मिकता पर प्रकाश डाल चुके हैं।

परन्तु उनके विशेषता-प्रकाशन में जो अतिरंजना हो गई है उसका एक गलत परिणाम यह हुआ कि प्रायः हम लोग 'प्रिय प्रवास' को एक करुण काव्य मानने लगे हैं और करुण के अभिप्राय के बारे में कुछ भ्रान्त से हो गये हैं। हरिऔध तक को इस प्रकार की भ्रान्ति हो गई और उसका बड़ा बुरा परिणाम हुआ। मेरे विचार में 'प्रिय प्रवास' करुण काव्य नहीं शृंगार काव्य है, और कारुण्य उसका प्रधान संचारी है। जहाँ करुण स्थाई होता है, अर्थात् 'रस' पदवी का अधिकारी होता है, वहां आलम्बन का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस करुण में धृति की गुंजाइश नहीं होती। अतः वह काव्य में स्थाई होता हुआ भी दीर्घकालिक नहीं हो सकता। विप्रलंभ की आलंबन की परोक्ष विद्यमानता के कारण

प्रीति का आलम्बन बहुत समय तक चल सकता है और हमने अभी देखा है कि 'प्रिय प्रवास' में यह प्रीति अन्ततः विप्रलम्भ में भी संयोग का-सा आभास पैदा कर सकी है।

हरिऔध की भ्रांति करुण-भाव को 'करुण रस' मानने तक न रही, बल्कि शास्त्रोचित विशेषता पर भारी जोर देकर उन्होंने प्रीति भाव को करुणा का रूप दे दिया—यहाँ तक कि राम की प्रीति के उपकरण स्वरूप परहित और लोकाराधन को भी, अथवा को ही, वह करुणा समझने लगे। यह भ्रांति संक्षेप में 'करुणा' और 'करुण' शब्दों की भ्रांति थी। करुणा और परहित-सम्बन्धी इस कृत्रिम चेतना के आरोप का घोर परिणाम यह हुआ कि उनका वैदेही वनवास करुणा का विप्रलम्भ तो ही नहीं, वह किसी प्रकार का भी काव्य न रह गया। भाव की व्याकुलता से 'वैदेही वनवास' का लेखक सर्वथा अनभिज्ञ है। वैदेही वनवास के इने गिने पात्र न कुछ सोचते हैं, न कोई कर्म करते हैं, उनकी कोई व्यवस्था ही नहीं। संक्षेप में, वह जी ही नहीं रहे हैं, वे केवल मशीन के समान किसी चलाने से, या यों ही एक दूसरे के सामने बैठकर लोकाराधन-कर्त्तव्य पर व्याख्यान देते या सुनते हैं अथवा फिर ठकुर-सुहाती के ढंग पर राम या सीता के लोकाराधन-व्रत की प्रशंसा का शिष्ट पालन करते हैं। वैदेही वनवास का कोई भी प्लाट नहीं है जो परिस्थितियाँ गिनाई गई हैं उनमें हो ही कैसे सकता था?

परिशिष्ट

: १ :

'गुञ्जन'

छायावाद की भावना में प्रकृति के पदार्थ आदि किसी आभ्यन्तरिक सूक्ष्म सत्ता की छाया या संकेत मात्र (symbols) होते हैं। पदार्थों के बाह्य रूप का स्वयं कोई अर्थ नहीं होता—वह बाह्य रूप केवल किसी जीवन सिद्धांत अथवा आचरण या नैतिक सत्य का सन्देह-वाहक उदाहरण या उपकरण-मात्र होता है। बर्फ रूप आकार में एक सफेद चमकने वाला जलीय पत्थर का टुकड़ा है परन्तु गर्मी में वह लता पहुँचाता है। छायावादी के लिए बर्फ का रूप अर्थात् बर्फ पदार्थ उतना अ .क महत्त्व नहीं रखता। बर्फ का रूप आकार एक विशेष प्रकार की शीतलता आदि का प्रतीक-मात्र है और वह शीतलता आदि ही छायावाद का एक-मात्र वस्तु तथ्य है। इसीलिये कोई-कोई छायावाद को संकेतवाद भी कहते हैं।

इस दृष्टि से पन्त के छायावादी होने में कोई सन्देह ही नहीं। उन्होंने प्रकृति के भिन्न-भिन्न पदार्थों को लेकर मानव-जीवन में उनका अभिप्राय घटित किया है। उनकी प्रकृति मनुष्य जीवन के लिए संदेशों से भरी हुई है; क्योंकि वह अपने भिन्न-भिन्न कर्मों और उद्देश्यों में मानव जीवन का ही अभिनय कर रही है जैसे "मानव" कविता में—'सीखा तुमसे कलि ने मुसकाना आदि। मानव जीवन या जग जीवन मानों गुंजन की कविताओं का नायक हो। 'मानव और 'विहंग नामक कविताएँ इस बात की द्योतक हैं। 'विहंग' विश्व की जीवात्मा है। प्रकृति के अन्य पदार्थों में मन भ्रमर है, सागर हृदय है, मधु जीवन का उल्लास और आशावाद है, लहरियाँ क्षण-क्षण में विलीन होने वाली और उठने वाली इच्छाएँ हैं आदि। इसलिए यदि नदी में लहरियां उठती हैं तो कवि को यहाँ मानव-हृदय की क्रिया दिखाई देती है। भ्रमर मधु के लिए पुष्प के पास गूंजता है तो वह मानो भविष्य की आकाँक्षाओं के लिए बेचैन रहने वाला और साथ ही आशा के उन्माद में नर्तन करने वाला मन है। एक और प्रधान भाव जो पन्त ने अपने गुञ्जन के कई पद्यों में पुष्ट किया है, वह जीवन में सुख-दुःख का

सामंजस्य है—इन दोनों से ही जीवन का वास्तविक रूप बनता है—मनुष्य को इन दोनों को संतुलित रखने का प्रयास करते रहना चाहिए या न चाहिए, पर किसी एक का उत्ताल हो बैठना जीवन की पद्धति का व्यतिचार (abnorma-tity) है।

पदार्थ से पदार्थ का संकेत तो अतिशयोक्ति तथा कई अन्य अलंकारों में भी होता है, पर छायावाद में पदार्थ से तत्व का संकेत किया जाता है। इस दृष्टि से तत्व ही कवि का प्रकृत होता है, और पदार्थ या प्रकृति अप्रकृत। पर जनसमुदाय का ध्यान रखते हुए पदार्थ को ही प्रकृत मानना होगा; क्योंकि जन समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति कवि के प्रकृत को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रख सकता। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति उसकी कविता-मात्र से मनोरंजित होने की कामना कर सकता है। इस प्रकार पदार्थ को ही प्रकृत मानना व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त होगा और जनसमुदाय की दृष्टि से छायावाद की कविता में प्रकृत और अप्रकृत का सामंजस्य होना चाहिए।

अलंकारो में इस सामंजस्य का होना इसलिए अधिक आवश्यक नहीं है कि उस में पदार्थ से पदार्थ का संकेत होने के कारण जनसमुदाय के लिए अप्रकृत अस्पष्ट नहीं रहता और लक्षणाशक्ति वहाँ अपना पूरा व सुस्पष्ट कार्य करती है। परन्तु छायावाद की प्रवृत्ति में, तात्विक संकेत की दुर्ग्राह्यता होने से वहाँ लक्षणा होते हुए भी लक्षणाशक्ति का कार्य बहुत कुछ अव्यापक और कुण्ठित रहता है अतः प्रकृत और अप्रकृत के सामंजस्य का उद्देश्य रखते हुए छायावाद की भाषा में लाक्षणिकता के प्रयोग की अपेक्षा समासोक्ति पद्धति का आश्रय ही अधिक श्रेष्ठ उपाय है। समासोक्ति की क्रिया में यदि पाठक अधिक कल्पनाशील नहीं है तो भी वह अप्रकृत पक्ष दुर्लक्ष्य होने पर भी प्रकृत के वर्णन का आनन्द उठा सकेगा। अत्यन्त लाक्षणिक प्रयोगो में शब्दों की बाह्यार्थविषयक असामर्थ्य के कारण कल्पनाशून्य पाठक कुछ भी ग्रहण न कर सकेगा और आनन्द न उठा सकेगा। और छायावाद की ही अथवा किसी भी वाद की कविता को सबसे पहले कविता तो होना ही चाहिए, आनन्द देकर अपना सन्देह पहुँचाने के लिए ही छायावादी कवि भी कविता बनाता है अन्यथा वह दार्शनिक निबन्ध भी लिख सकता था —उसे कविता करने की जरूरत न थी।

छायावादी कवि के लिए प्रकृति का आधार सुलभ आधार है। प्रकृति में मोहन करने की सामर्थ्य अधिक है। मनुष्य के कर्मों का आधार उसके लिए इतना उपयोगी नहीं, क्योंकि मनुष्य के कर्म और उद्देश्य ही तो उसके अप्रकृत

हैं। रहस्यवादी की बात इससे भिन्न है, क्योंकि रहस्यवादी का अप्रकृत ईश्वरीय सत्ता है, जिसके लिए अखिल सृष्टि के पदार्थ और व्यापार प्रकृत का म सकते हैं।

छायावादी जब प्रकृति को आधार बनाता है तो यह आवश्यक है कि उसके प्रकृति-वर्णनों में स्वाभाविक मोहन-सामर्थ्य हो। यह देखते हुए कि छायावादी कवि का उद्देश्य छायावाद ही है, यद्यपि उसके वर्णन प्राकृतिक रमणीयता का दृश्य सामने उपस्थित करते हैं, हम छायावादी को प्रकृति का कवि नहीं कह सकते क्योंकि अन्ततः छायावादी का संकेत या अभिप्राय उस रमणीयता का नहीं है, और जिस समय पाठक छायावाद के संकेत को ग्रहण कर लेता और उससे आनन्द उठाने लगता है तो प्राकृतिक रमणीयता का आनन्द उसके लिए गौण या कभी-कभी नगण्य हो जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक रमणीयता का वर्णन वास्तव में एक मुख्य सन्देश की ओर प्रेरक मात्र का काम करता है, जैसे बढ़िया मिठाई के ऊपर लगा हुआ चाँदी का वर्क।

छायावादी की लाक्षणिक पद्धति में अलंकारों की बहुलता होना स्वाभाविक है, परन्तु समासोक्ति पद्धति में वह आवश्यक नहीं। अलंकार हो भी सकते हैं, और नहीं भी।

पन्त में लाक्षणिकता अधिक है, यथा 'देखूँ सब के उर की डाली' या 'आशा के लघु अंकुर' आदि। जिसके कारण पाठक को प्राथमिक अर्थ कवि के अभिप्राय का पूरा पता नहीं मिल पाता। यहाँ तक कि कभी-कभी जबतक सांकेतिक अर्थ ग्रहण न हो तब तक कोई भी अर्थ समझ में नहीं आता। परन्तु गुंजन में समासोक्ति पद्धति के भी पद्य हैं, जैसे 'आई लहरी चुम्बन करने' या फिर अधिकतर एक ही कविता में लाक्षणिक और समासोक्ति प्रयोग दोनों एक साथ दिखाई देते हैं। प्रकृति और अप्रकृत के सामंजस्य की दृष्टि से झर गई कली' वाली कविता बड़ी श्रेष्ठ है परन्तु उसमें भी कवि अपने संकेत की उत्कट उपचेतना को संयत नहीं रख सका। जिसके कारण अन्त की लाइनों में उद्देश्य या उपदेश के स्वरूप में उसके लिए यह कहना आवश्यक हो गया है, 'लेन देन' ही जग जीवन, आदि। गोया कि कवि का अपने पाठक पर विश्वास नहीं है कि वह मेरी प्रकृत की सांकेतिकता को ग्रहण कर सकेगा या नहीं।

परन्तु कवि के लिए अपने पाठक का विश्वास करना भी बहुत अंश तक एक आवश्यक-सी बात है, अन्यथा द पाठक असमर्थ ही हैं तो उनके लिए ऐसी कविता लिखी ही क्यों जाती है—या फिर यह कवि की त्रुटि अथवा असामर्थ्य है कि वह प्रकृत के ही द्वारा अपने संकेत को स्पष्ट नहीं कर पाता।

पन्त कहीं-कहीं प्रकृति का आश्रय छोड़कर स्वयं ही दर्शन तत्त्वों की मीमांसा करने लगे हैं। ऐसे स्थलों पर छाया के अन्तर्गत होने के कारण छायावाद का तत्त्व स्पष्टतः नहीं मिलेगा; जैसे—'रचना है गरिमा के भी, जिसमें महिमा है महिमा।' कोई कोई कविताएँ केवल प्रकृति को लेकर ही की गई हैं और इनमें कोई विशेष सांकेतिकता नहीं है, जैसे नौका-विहार। परन्तु कवि की अपने उद्देश्य की चेतना कहीं भी दूर नहीं हुई है और कविता के अन्त में तत्त्वदर्शन आ ही गया है। इस तरह के तत्त्व-निरूपण अधिकांश पद्यों में मिलेंगे, जिससे रंजकता की न्यूनता कम हो जाती है।

भाषा और शैली बड़ी मनोहर है—मधुर, सुन्दर और प्रांजल है। कोमल शब्दों की ही बहुलता है, कहीं कहीं अनुप्रास का भी बड़ा अच्छा है। लाक्षणिकता-युक्त प्रयोगों में स्वाभाविकता ही अधिकतर और स्पष्ट अलंकारों का अधिक चमत्कार देखने में आता है, जो गुंजन में भी है।

गुंजन की कविताओं में समस्या का अभाव है। समस्या मनोरंजन और कौतूहल तथा निरंतर प्रभाव में सहायक होती है। परन्तु गुंजन में कवि की कुछ निश्चित धारणाएँ हैं, जिनकी स्थापना ही कवि की कविता का उद्देश्य है; धारावाहिक प्रबन्ध में समस्या की अधिक गुंजाइश और सहूलियत रहती है, परन्तु स्फुट कविता में भी यह हो सकती है। यदि स्फुट कविता में सिद्धान्तों और विचारों की स्थापना की जा सकती है तो समस्या क्यों नहीं लाई जा सकती ?

रहस्यवाद और छायावाद दोनों की सफलता के लिए भावना की अनुभूति आवश्यक होती है। भावना की कोई खटकने वाली (remarkable) त्रुटि गुंजन में नहीं मालूम होती सिवा इस बात के कि तत्त्वनिरूपण की लालसा-रुचि सर्वत्र विद्यमान है। जिससे कहीं-कहीं सन्देह होता है कि कवि इरादा कर के छायावादी पद्य लिखना चाहता है। भावनामात्र के वेग से (Spontaneously) नहीं। अनुभूति को परखने का एक और भी उपाय शायद यह है कि यह देखा जाय कि कवि ने प्रकृति के जिन पदार्थों को अपना (या पाठक का) प्रकृत बनाया है उनकी व्यापकता और मौलिकता कितनी है अर्थात् वे पदार्थ कवि परंपरागत कतिपय बहुत प्रसिद्ध पदार्थ ही हैं अथवा कवि ने प्रकृति के बीच में बैठकर सारी प्रकृति से प्रभाव ग्रहण किया है।

★

: २ :

'जनमेजय का नागयज्ञ'

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। जिसमें कथावस्तु के निर्माण के लिए लेखक ने कहीं-कहीं कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया है। कथा पौराणिक तथा सर्वसाधारण की परिचित होने के कारण प्रारम्भ से ही कुछ कौतूहल उत्पन्न करने वाली है, और ज्यों-ज्यों घटनाओं का विकास होता जाता है त्यों-त्यों कौतूहल को अधिकाधिक बढ़ाती हुई अन्त में एक आनंद-प्रद विराम की अवस्था को पहुँचती है नाटक में शिथिल दृश्य कम हैं। जो हैं वे कवित्वपूर्ण भाषा और भावुक कथोपकथनों के कारण उद्वेगकर नहीं होते। पहले ही दृश्य में उत्तेजना इतनी अधिक मात्रा में है कि पाठक स्तम्भित-सा हो जाता है और भावी परिस्थितियों की कल्पना द्वारा एक मानसिक लय का-सा अनुभव करने लगता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक मनोरम नाटक है। भिन्न-भिन्न भावों की परि-स्थिति में पाठक को डाँवाडोल करके उसके हृदय को बराबर अनुरंजित रखता है। आरम्भ में ही अद्‌भुत के दर्शन होते हैं। उत्तंक-दामिनी के संवाद में उत्तंक के भावी आचरण की जो तीव्र जिज्ञासा होती है उसका बड़ा सुन्दर समाधान है। इस नाटक में कहीं करुणा के दर्शन होते हैं, कहीं शृंगार के, कहीं रौद्र के, कहीं वीभत्स के तथा कहीं शान्त के। नागों के जलाए जाने में रौद्र और ‌ ‌स का समावेश है। देवव्यास के आश्रम में अपूर्व शान्ति का बोल-बाला है सरमा व माणवक का संवाद तथा दासी बनने से पहले सरमा की स्वगतोक्ति में करुणा की ट है। दूसरे अंक के पहले दृश्य में शृंगार तथा विनोद का मिश्रण है। त्रिवि-क्रम तथा शिष्यों वाला दृश्य हास्यपूर्ण है।

'प्रसादनेअपने को तीन अंकों में विभक्त भक्त किया है जो वास्तव में प्लाट के आरम्भ, मध्य और अन्त कहे जा सकते हैं। प्रथम अंक बहुत अन्शों में तो प्लाट की पूर्व परिस्थितियों को सुलझाकर उन अवस्थाओं का विकास करता है जो नाटक की गति को सारभूमि (climax) तक पहुँचाने में समर्थ होती है

और उस संघर्ष का निर्देश करती हैं जो वास्तव में नाटक की सारस्थिति है। अत दूसरे अंक में हम नाटक की इसी संघर्षमूलक सारस्थिति को धीरे-धीरे बढ़ती हुई देखते हैं। साथ ही साथ इस अंक में अस्फुट रूप से उन परिस्थितियों का भी उदय होता है जैसे प्रथम दृश्य में मणिमाला और जनमेजय की भेंट, जो अन्त में संघर्ष के उतार के बाद सुखपरिणति का कारण बनती हैं। तीसरा अंक उतार का अंक है; जिसके प्रत्येक दृश्य में शान्ति, करुणा और प्रेममयी विरक्ति का वातावरण स्थापित किया गया है। इस अंक में मणिमाला और जनमेजय के प्रारम्भिक अनुरागबीज को एक बार फिर पुष्ट कर के सुखरूप उपसंहार की सूचना दे दी जाती है।

नाटक की विचार धारा बड़ी समुन्नत है। प्रारम्भिक प्रकाशन-क्रम में 'जनमेजय का नागयज्ञ, प्रसादजी का तीसरा नाटक है और अपने पूर्ववर्ती 'अजातशत्रु' की अनेक भावप्रवृत्तियों को सूचित करता है। जीवनव्यापी संघर्ष के बाद सांसारिक क्षुद्र वासनाओं से विराग तथा करुणा और प्रेम से आपूरित शान्ति का ध्येय और उसकी प्राप्ति प्रसाद के अन्य नाटकों की भांति 'नागयज्ञ' में भी दृष्टिगोचर होती है। संघर्ष की प्रतिष्ठा में रौद्र, वीर अथवा वीभत्स के साथ जुगुप्सा, निर्वेद और करुणा का द्वन्द्व दिखाया गया है। मनसा, तक्षक आदि प्रथम प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं और उत्तंक, मणिमाला, सरमा, आस्तीक आदि दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियों के। जनमेजय नेता की हैसियत से, और स्वय उस संघर्ष का ही प्रतिनिधि होने के कारण, समय-समय पर परिस्थितिवश दोनों ओर प्रवृत्त होता है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का यह सामान्य आदर्श 'नागयज्ञ' में रूपान्तर से विश्व-मैत्री और प्राणि-मात्र की एकता का रूप धारण करता है। उस एकता का मूल सिद्धान्त है—सर्वत्र शुद्ध चेतन की व्यापक सत्ता। इस अद्वैत-प्रतिष्ठा में एकता या समभाव स्वयं स्थापित हो जाता है, जिसका अर्थ है भेद-भाव का निराकरण। परन्तु मनुष्य अपनी अहंवृत्ति के कारण अनेक विपक्षी द्वन्द्वों को बना लेता है और भेदों को देखने लगता है। इसलिए, अन्तर्दृश्य में श्रीकृष्ण कहते हैं कि द्वन्द्व बुद्धि को दूर करना चाहिए और जो लोग समझने से उसे दूर नहीं करते उन्हें हमारा विरोधी बनना पड़ेगा, प्रकृति के चक्र में पिसकर उन्हें नया रूप धारण करना होगा। इसी प्रकार वे हमारे समीपतर आ जायँगे। साम्य-स्थापन का यह कार्य ईश्वरेच्छा की स्वाभाविक क्रिया है, अतः उसकी पूर्ति में

मनुष्य को कर्ताभाव न लाना चाहिए और इसीलिए अर्जुन द्वारा खांडव-दाह होने में भी कोई दोष नहीं है।

प्रथम दृश्य के अन्तर्दृश्य में प्रतिपादित यह सिद्धान्त ही 'नागयज्ञ' की समस्त घटनावली में व्यावहारिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। अन्तर्दृश्य का यही उद्देश्य और महत्व है। खांडव वन में जलाये गये नाग अब भी अपनी बर्बरता नहीं छोड़ते हैं और भेद-भाव को पुष्ट कर अपने को जड़ बनाए रखने में ही वे सन्तुष्ट हैं। वे शान्ति और प्रेम से रहकर आर्यों से मिल ही नहीं सकते। इसीलिए प्रकृतिचक्र से उद्भूत परिस्थितियों में पड़कर वे दिन रात पिसते हैं। जब वे अच्छी तरह पिस चुकते हैं तो उनका रूप बदलता है। मणिमाला और जनमेजय के विवाह द्वारा वे आर्यों के साथ समता की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण के उस शुद्ध चेतनसम्बन्धी गहन अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना में आशंका हो सकती है कि नाटक की वस्तु और गति नीरस होगी। जिन स्थलों पर इस प्रकार सिद्धान्तों की विवेचना होती है वे आसानी से बोधगम्य न होने के कारण शुष्क से हो भी जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल वास्तव में वस्तु की शृंखला-मात्र हैं, स्वयं वस्तु नहीं हैं। यथार्थ घटनावली में तो सांसारिक संघर्ष की परिस्थितियाँ ही हैं, जो व्यापक सिद्धान्त की दृष्टि से वस्तुतः प्रकृतिचक्र के आवर्तन मात्र हैं। इन आवर्तनों में जब पात्र अपनी अहंबुद्धि को लेकर क्रीड़ा करते हैं तो वे अवसरानुकूल अपने हृदय की प्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं और ऐसे अवसरों पर भावुकता का आपादन होता है।

आचार-नीति की व्यंजना में नाटककार ने प्राचीन तथा अर्वाचीन समाजों और व्यक्तियों के व्यवहारों को उदाहृत करने की चेष्टा की है। आदर्श चरित्रों में दयाचरण की पूर्णता भक्ति पैदा कर वाली है। उत्तंक का नैतिक बल, जरत्कारु और वेद की क्षमा तथा वेदव्यास का शान्तिपूर्ण और सर्वतोगामी प्रभाव एक अति उच्च नैतिक वातावरण के द्योतक हैं। यज्ञादिक का अनुष्ठान, ब्राह्मणों की बची-खुची महिमा, ऋषियों का आश्रमों में तपस्या आदि करना, गुरुकुल-प्रणाली (जिसमें शिष्य स्वेच्छा से गुरू को मनोनीत दक्षिणा देता है), राजकुल का समय-समय पर ऋषियों तथा आचार्यों से उपदेश ग्रहण करना आदि उस प्राचीन समय के वातावरण के द्योतक हैं जिसकी कथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' का विषय है। इन सबके बीच में कहीं-कहीं ब्राह्मणत्व का मिथ्या अहंकार और पतन, कुपात्र शिष्यों का गुरू की अवज्ञा करना या हँसी उड़ाना, अन्तिम दृश्य

के अनुसार यज्ञादिक की अनुपयोगिता, सभ्य कहलाने वाली और असभ्य कहा जाने वाली जातियों का संघर्ष, पददलितों की छटपटाहट और स्वतन्त्रता के लिए उनका प्रयत्नशील होते रहना आदि बातें वर्तमान भारतीय परिस्थितियों को किसी अंश में प्रकट करती हैं। प्राचीन और वर्तमान वातावरणों के इस सामंजस्य में लेखक के एक अस्पष्ट उद्देश्य की झलक दिखाई दे सकती है।

इस नाटक की भाषा संस्कृत-मिश्रित है और एक ऊँचे शिष्ट समाज की कल्पना को उत्पन्न करती है। भाषा क्लिष्टता के कारण समझने में कुछ कठिनता होती है। परन्तु इसका दोष एकमात्र भाषा के ऊपर ही नहीं मढ़ना चाहिए। जहाँ हमें भाषा क्लिष्ट मालूम होती है और समझने में कठिनता होती है वहाँ दार्शनिक विचारों तथा संवादों का भी उत्तरदायित्व है। विचारों की गहनता के कारण भाषा पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अन्यथा, जहाँ विचार अधिक गहन नहीं हैं और हम लौकिक चरित्रों के लौकिक वाक्यों को ही सुनते हैं वहाँ भाषा इतनी कठिन नहीं मालूम होती। प्रसाद की भाषा कवित्व-पूर्ण है और जहाँ उस भाषा का वास्तविक भावुकता से सम्बन्ध हो जाता है वहाँ चाहे वह क्षण-भर को ठीक समझ में न आए, परन्तु हमको मीठी खुमारी का-सा आनन्द मिलने लगता है। मणिमाला की दूसरी स्पीच इसका उदाहरण है।

इन विभिन्न दृष्टियों से 'जनमेजय का नागयज्ञ' हमारी समझ में एक अच्छा नाटक है। परन्तु यदि अभिनेता की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। संस्कृत-गर्भित भाषा तथा स्थान-स्थान पर गहन दार्शनिक व ऊँची कवित्वमयी भावुकता का समावेश साधारण दर्शक के लिए रंगमंच पर इस नाटक को निरानन्द बनाने में समर्थ है। तदुपरान्त नाटक के भीतर कई एक ऐसे दृश्यों का आना, जिनमें केवल कथोपकथन ही कथोपकथन है और कोई विशेष व्यापार नहीं है, एक मुख्य दोष है। कुछ कठिन दृश्यों के कारण अभिनेयता में और भी अड़चन पड़ती है। खांडव-दाह और नागों को जलाये जाने के दृश्य स्टेज पर दिखाना कठिन है, वे दर्शकों के लिए वीभत्स और ग्लानि-पूर्ण हो सकते हैं। इस भाँति यद्यपि काव्य की दृष्टि से 'जनमेजय का नागयज्ञ' एक श्रेष्ठ नाटक है, परन्तु अभिनेयता की दृष्टि से हम इसे अधिक सफल नहीं समझते।

चरित्र-चित्रण : जनमेजय

जनमेजय भारतवर्ष का सम्राट् और युवक है। उसके चरित्र में पीछे के इतिहास का अस्तित्व है। उसके पिता का नागों द्वारा वध हुआ था। सिंहासन पर बैठने के बाद अपने पिता की हत्या का बदला लेना उसका कर्तव्य था। तदतिरिक्त वह ऐसा समय था जब दस्युओं के अतिक्रम शान्त प्रजा के लिए विघ्नकारी सिद्ध हो रहे थे और यदि उसकी नींव न उखाड़ी जाती तो शायद राष्ट्र में विप्लव हो जाता। दुर्भाग्य से ऐसे षड्यन्त्रों में कोई-कोई दुर्ब्राह्मण भी शामिल थे। उस समय ब्राह्मणों का विशेष मान था। राजा भी उनकी आज्ञा का वशवर्ती था। ऐसी परिस्थिति में एकाध ब्राह्मण के भी षड्यन्त्र में मिल जाने के कारण घोर कठिनाइयों के उपस्थिति हो जाने की संभावना थी। जनमेजय के चरित्र पर इस परिस्थिति का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि जनमेजय को हम एक अति क्रूर और प्रतिहिंसाशील व्यक्ति के रूप में देखते हैं। जनमेजय मानव पात्र है, असामान्य देवप्रवृत्तियाँ उसमें नहीं हैं, फलतः मानवी दुर्बलताएं उसमें स्वाभाविक हैं। वह स्थान-स्थान पर नागों को जलवाता है और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो ब्राह्मणों को निर्वासित करने का साहस करता है। जिस समय तक्षक उससे कहता है कि 'क्रूरता में तुम किसी से भी कम नहीं हो' तो वह उत्तर देता है, 'यही तो मैं तुमसे कहलवाना चाहता था', तो एक प्रकार से वह स्वयं ही अपने क्रोध और प्रतिहिंसा का कुछ स्पष्ट रूप से उद्‌गार कर देता है। साथ ही राज-सभा में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का गोपन करके उसका यह कहना कि 'आपको नहीं मालूम···' (पृष्ठ १८-१९), उसकी मानवी दुर्बलता का सूचक है। मनुष्य अपने किसी आचरण की पुष्टि के लिए उसे उदारता या बेबसी का आवरण दिया ही करता है।

जनमेजय तेजस्वी प्रकृति का व्यक्ति है और राजप्रभुता को समझता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त और किसी को वह अपने सामने अधिक बोलने का अवसर नहीं देता। मृगया में मद्रक के निषेध करने पर कि ऐसी जगह मृग नहीं छिपते वह कहता है 'चुप रहो'। परन्तु उसका सबसे अधिक मानवीय रूप उसके निराशावाद में है। इस परिस्थिति में वह हमारे सामने सम्राट् नहीं है, प्रत्युत एक मनुष्य-मात्र है। अपनी परेशानियों और चिन्ताओं से दुखी होकर वह दीन की भांति अनेक बार चिल्ला उठता है—'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।' इसी भाँति मणिमाला को देखकर उसके हृदय में किसी एक अलक्ष्य वृत्ति

का-सा संदेह होना उसकी उसी मानवीयता का लक्षण है। परन्तु इस स्थान पर वह अपनी राजपद की मर्यादा को निभाता है और अपना भावसंवरण कर मणिमाला के आतिथ्य को अस्वीकार कर देता है।

जिस समय की कथा इस नाटक में दी गई है उस समय में ब्राह्मण-अब्राह्मण वा आर्य-अनार्य तथा राजकर्तव्य एवं यज्ञक्रियादि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक रूढ़ियाँ मौजूद थीं। राजा उन रूढ़ियों से परे नहीं था। जनमेजय अनार्य सरमा और उसके लड़के का न्याय नहीं करता। वह ब्राह्मणों का मुखापेक्षी है और उसके इशारे पर यज्ञादिकों में प्रवृत्त होता है। तथापि उसमें इतनी स्वतंत्रता है कि वह अन्त में ब्राह्मणों को फटकार कर यह कह सकता है कि 'आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूंगा जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नाग यज्ञ से अश्वमेधों का अन्त होगा।'

*

: ३ :

'स्कन्दगुप्त' नाटक के दो पात्र

स्कन्दगुप्त और धातुसेन

स्कन्दगुप्त संसार को सारहीन समझने वाला कर्तव्य-परायण युवक है। उसमें अपने लिए महात्वाकाँक्षा नहीं, परन्तु देश के लिए है। देशभक्ति की हैसियत से वह आदर्श है, और इस दृष्टि से उसके चरित्र चित्रण में उत्थान-पतन की अधिक गुञ्जाइश ही नहीं। अन्यथा वह मनुष्य है—हृदय में कोमलता रखता है, दुरवस्थाओं से उसमें विषाद भी पैदा होता है और दुष्टताओं पर उसे क्रोध भी आता है। पर परमोच्च देशभावनाओं की ही प्रेरणाओं से जैसे उसके चरित्र में एक महती उदारता का भी पोषण हुआ है, जिसके कारण विषाद और क्रोध के ऊपर भी उत्साह और क्षमा का ही विकास होता है। इन चरित्र गुणों का विकास हमेशा एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों से ही होता है जिनमें स्कन्द के वास्तविक मानव रूप का आभास कम मिलता है। यह अनुमान करना पाठक के लिए कठिन है कि यदि नाटक की परिस्थितियाँ स्कन्द के सामने न होतीं तो उसका देश तथा शासन के प्रति क्या कर्तव्य होता। परन्तु उस अवस्था मे भी कुछ उसका कर्तव्य होता वहीं उसका सच्चा मानव रूप भी होता। उसका दिग्दर्शन यथेष्ठ रूप से न हो सकने के कारण स्कन्द का चरित्र परम उज्ज्वल होते हुए भी, चरित्र-चित्रण की कला को यथेष्ट मात्रा में प्रदर्शित नहीं करता। यथार्थ में उच्च आदर्श चरित्रों में चित्रण की कला पूर्ण रूप से प्रोद्‌भासित हो भी नहीं पाती। "प्रसाद" की यह भी अपने इस पात्र के प्रति काफी सहानुभूति-शीलता और अतएव नाटकीय चतुरता है कि इतना होने पर भी उन्होंने उसे मनुष्य ही रखा है।

स्कन्द के विपरीत, धातुसेन के चरित्र में व्यापार और प्रवृत्ति विशेष न होने पर भी लेखक का चित्रण-कौशल अधिक देखने में आता है। इसका एक मात्र प्रमाण यह है कि व्यापारिक दृष्टि से भले ही स्कन्द हमारी उत्सुकता को जागरित करता हो; परन्तु चरित्र की दृष्टि से जितना धातुसेन आरम्भ से ही हमारे

कौतूहल को उकसाने लगता है उतना स्कन्द नहीं। परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने व्यक्तित्व अंश-मात्र का परिचय देना और शेष को छिपा रखना, परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने-आपको ढाल लेने की सामर्थ्य भी रखना, जिससे वह अनुभव को अक्षुण्ण रूप से और भी बढ़ा सके, उसके चरित्र की विशेषता मालूम होती है। जब पहली बार हम उसे देखते हैं और कुमारगुप्त उसे "अबोध विदेशी हँसोड़" कहता है तो हम कुमारगुप्त से असहमत नहीं होते। परन्तु कुमारगुप्त के यही शब्द, जब आगे हमको धातुसेन का और अधिक परिचय मिलता है, तो इस बात का प्रमाण बन जाते हैं कि धातुसेन का चरित्र कितना गहन है और कितना मँजा हुआ व्यक्ति है। धातुसेन दुनिया-भर के अनुभव-ज्ञान की एक रहस्यमय पोटली है, जो व्यापार में प्रविष्ट न होकर परिस्थितियों और अवस्थाओं द्रष्टा-मात्र होता हुआ भी, मानो परिस्थितियों और अवस्थाओं का एक चतुर वैद्य है, जो कि निदान के साथ-ही-साथ आयुष्य के एक-एक मर्म का चुटकला दिया जाता है और आरोग्य-संचार के निमित्त भिन्न-भिन्न तत्वों का सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा करता रहता है। उसकी उक्तियों में भावी की चेतावनी है जो रोग के मर्म का स्पर्श करती है।

'प्रसाद' के अन्य नाटकों में पात्रों और घटनाओं के गति-निरीक्षण और संरक्षण के लिए एक महात्मा पात्र रहता है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इस नाटक में, प्रख्यात कीर्ति के रूप में एक महात्मा पात्र के होते हुए भी, निरीक्षण और संरक्षण का अधिकांश उत्तरदायित्व धातुसेन-जैसे एक परम अनुभवी सांसारिक व्यक्ति ने, जिसमें दार्शनिकता की भी कमी नहीं है, ले रखा है। जिस तरह अन्य नाटकों में महात्मा क्रिया-समूह का सूत्र अपने हाथ में संभाले रहते हैं, बहुत अंश में उसी तरह इसमें धातुसेन करता है और मातृगुप्त से उसकी मैत्री इस सूत्र संरक्षण का परम आवश्यक लक्षण है।

धातुसेन में हँसोड़पन की शक्ति अच्छी है। कुमारगुप्त कहता है कि 'धातुसेन अबोध विदेशी हँसोड़ है।' अपने हँसोड़पन के साथ मूर्खता का आवरण देकर वह अपनी नीतिज्ञता सचित करता है। कुमारगुप्त, भारत के सम्राट् का अन्तरंग बनने का यही उत्तम, साधन था; जिससे अध्ययन अच्छा कर सका और राजा के यहाँ की अन्तरंग अवस्थाओं तथा रहस्यों को खोज सका। परन्तु वास्तव में वह मूर्ख या हँसोड़ नहीं है। ये दोनों गुण उसके छद्म ही हैं। वह भी एक युवराज है। अतः उसके आचरण में उसकी नीतिज्ञता

और उसकी स्वातन्त्र्यवृत्ति दोनों की झलक मिल जाती है। वह व्यंग कर देता है, परन्तु ऐसा कि उसकी 'अबोधता' के कारण वह हमेशा क्षम्य रहता है। सम्राट् विलासी हो रहे हैं, इसलिए वह कहता है, 'मैंने तो समझा था—' इत्यादि (पृष्ठ १०) और फिर पूछता है—'सम्राट् होने पर भी युद्ध' फिर—'एक स्त्री को मन्त्री—'इत्यादि। सम्राट् अनन्तदेवी की कुटिलताओं के चंगुल में थे, अतः वह कहता है—'स्त्री की मन्त्रणाओं..........छुट्टी मिल गई।' एक दूसरा राजनीतिज्ञतापूर्ण संकेत वहाँ मिलता है जहाँ वह कहता है—'राजपुत्र भेड़िये हैं। इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।' क्योंकि उस समय पुरगुप्त का षड्यन्त्र चल रहा था। इसी प्रकार—'राजा लोग व्याह ही न करें। क्यों भेड़िये-सी सन्तान उत्पन्न हो।' कुमारगुप्त अनन्तदेवी के वंश में थे। धातुसेन को एक अति साहसपूर्ण मूर्खोक्ति इस सम्बन्ध में है—'उसके अनर्थशास्त्र में विषकन्या का—' आदि। वह कभी-कभी गम्भीर बातें गम्भीरता के साथ भी कह देता है। यद्यपि अपने हँसी के ही ढंग से, जैसे—'राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दर भी यदि कोई था तो एक सुग्रीव हो गया है।'

ऊँचों के दर्प पर वह व्यंग्य करता है—'हिमालय ऊँचा है—' आदि (पृष्ठ १६)। 'दर्प से उद्धत गुप्त साम्राज्य' के परिवर्तन का वह पहले से ही आभास देख लेता है (पृष्ठ २१)। वह दार्शनिक है (पृष्ठ २१)। मातृगुप्त उसकी अलंकारोक्ति के अभिप्राय को समझ लेता है जिस समय उसने कहा है—'समय मनुष्य और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है—' आदि, और मातृगुप्त उत्तर देता है, 'निस्सन्देह' अनन्त देवी के इशारे पर कुमारगुप्त नीच रहे हैं।'

★

: ४ :

बापू

श्री सियारामशरण गुप्त द्वारा लिखित 'बापू' प्रधानतः एक वीर पूजात्मक काव्य है, और इस दृष्टि से आधुनिक समय के मुक्तक छन्दों में चारण काव्य Ballad poetry के ढंग का है, जिसमें कुछ गीति-तत्व-सा भी पाया जा सकता है। इसकी प्रत्येक कविता अलग-अलग मुक्तक है। परन्तु क्योंकि समस्त ग्रन्थ एककालीन रचना है इसलिए इनके मुक्तकों में जैसे ध्येय की एक-सूत्रता या समरसता भी मौजूद है। तथापि इनके कारण यह प्रबन्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसमें कथा या कथांगों का कोई अनुसन्धान नहीं है। एककालीनता और तद्धेतु की समरसता के प्रतिफल में हमें 'बापू' काव्य में नायक की प्रत्येक विभिन्न परिस्थिति में कवि की एक-सी ही मनोवृत्ति बराबर काम करती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक स्थिति में नायक का भी जैसे एक ही रूप दिखाई देता है। नायक का यह रूप त्यागवीर और अहिंसा-युद्धवीर का ऊर्जस्वल रूप है। इस रूप के प्रभाव में अखिल पशुताओं, दानवताओं, भीतियों आदि के दल को विजेता के सामने हम पलायन करते देखते हैं तथा अत्याचारी से पदाक्रान्त प्रजा का शान्ति, आशा और पुनर्जीवन का स्वागत करते देखते हैं। इस व्यापार में भी जहां प्रजाओं और शताब्दियों या कारावासों आदि का चित्र है वहाँ मानो उनका प्रस्तुत काव्यनायक ही है जो प्रत्येक वर्णन में पर्दे के पीछे खड़ा झलकने लगता है।

Ballad poetry का सन्देश स्वाभाविकतया उदात्त रहता है। 'बापू' भी एक उदात्त रचना है। नायक की विशेषतायें इसकी उदात्तता की भी विशेषतायें हैं—अहिंसा संग्राम और नायक की अकिंचनता, निरस्तता के कारण Ballad poetry का एक अन्य परिचित लक्षण chivalry और chivalrous शृंगार भी प्रायः देखने में आया करता है, जिससे 'बापू' सर्वथा मुक्त हैं।

बापू (नायक) का चरित्र और व्यक्तित्व मानो युग की पुकार का ही संलक्ष्य स्वरूप है। बापू में और युग में एकात्म्य है, उसके नाते बापू भारतीय आदर्श के लिहाज से, युगपति कहे जायँ तो क्या हर्ज है। अपने-अपने समय के दूसरे युगपतियों—राम, कृष्ण, ईसा आदि सबका कवि ने बापू में समाधान और समाहार कर लिया है। पर फिर भी या शायद इसलिए बापू, बापू ही हैं।

स्वाभाविकतया वीर का० : में हम "स्थायी भाव उत्साह' या वीर रस की ही परिस्थितियों की आशा करते हैं 'बापू' स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। परन्तु इसके उत्साह में एक नवलता है, जो Ballad poetry के romance या 'अद्भुत तत्व' का स्थान ग्रहण करती है। एक सर्वस्व-त्यागी, अर्द्ध नग्न अकिंचन, जिसकी मूर्ति से 'शम' की प्रेरणा ही उसका कल्प-नीय सत्व जान पड़ती है जब शान्ति का हाथ उठता हुआ हमें बढ़ चलने के उत्साह से उद्दीप्त करता है तो हम जैसे बड़े कौतुक-चकित से रह जाते हैं। साहित्य पद्धति में 'शम' और 'उत्साह' विरोधी हैं। 'बापू' में इन दोनों का एकत्र रुचिकर समाधान ही जैसे 'अद्भुत' की विश्रब्ध भूमि बन जाता है। इसके अति-रिक्त 'रति' और 'उत्साह' दो ऐसे भाव हैं जिनकी परिचर्या में लगभग अन्य समस्त भाव संचरण (संचारियों के रूप में) कर सकते हैं। 'रति' और 'उत्साह' का तो आपस में भी जैसे बड़ा सन्निकट सम्बन्ध हो। एक दूसरे का हमेशा पोषक होता है। परन्तु 'बापू' में मानो उत्साह ही एक मात्र स्वयंसिद्ध सत्ता है जिसे संचारियों की कोई जरूरत नहीं। यदि कोई संचारी दिखाई भी देता है तो युग की वेदना, आशामयी विकलता और उत्कंठा के रूप में—नायक की किसी संचरिणी भावना के रूप में नहीं। नायक के व्यक्तित्व से जो शान्ति का सन्देश-सा मिलता है वह भी उसके उत्साह का संचारी न होकर मानो उसका एक गौण उद्दीपन दृष्टिगोचर होता है।

'बापू' की कविता में माधुर्य या प्रसाद की अपेक्षा ओज अधिक है, जो वीरकाव्य में होना स्वाभाविक है। इस ओज का साहित्यिक रूप उसकी शैली है जिसके उपकरणों में उसकी अत्यन्त तत्सम पदावली तथा संयुक्ताक्षर-पवल स्फोटमयी वाणी है इसके अतिरिक्त सम्भव है, ग्रंथ की मुक्तक छन्द-रचना भी ओज विधान में सहायक हो सकी हो।

'बापू' की सारी रचना अलंकारमयी है, जिसमें सांगरूपकों को विशेष स्थान दिया गया है।